मधूलि रस्तोगी साल में I

# कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

# विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२१, अगस्त १९६४


| विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १–दिव्य विमान-विराजित भगवान्का ध्यान [ कविता ] | १०७७ |
| २–कल्याण ( 'शिव' ) | १०७८ |
| ३–ज्ञानके अमोघ साधन ( दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास ) | १०७९ |
| ४–ॐ क्या है ? ( श्रीडाह्याभाई मोतीभाई पटेल, बी०, एस-सी०, लंडन ) | १०८२ |
| ५–शौव-उद्गीथ ( डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए० ) | १०८५ |
| ६–फूल बननेके लिये ( श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि' ) | १०८६ |
| ७–मधुर | १०८७ |
| ८–रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम ( कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ ) | १०८९ |
| ९–मेरे प्रभुका स्नेह [ कविता ] | १०९६ |
| १०–वे सब हमें छोड़ जाते हैं, पर यह हमको नहीं छोड़ता ! ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शन-केसरी, साहित्यरत्न ) | १०९७ |
| ११–आत्माका निवासस्थान हृदय-प्रदेश ( श्रद्धेय स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज ) | ११०० |
| १२–भक्त विभीषणके चरित्रका विकास ( डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी० ) | ११०५ |
| १३–कौन है ? [ कविता ] (गुलशन नवीन) | ११०९ |
| १४–कटती हुई जड़ोंकी चुनौती ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' ) | १११० |
| १५–कुल पवित्र करनेवाले पत्नी-पुत्र [ कविता ] | १११२ |
| १६–आसुरी संस्कृतिका प्रभाव ( श्रीआचार्य सर्वे ) | १११३ |
| १७–आजका असुर-मानव [ कविता ] | १११४ |
| १८–हिंदू-सनातनधर्म ( श्री एस० एन० मूर्ति ) | १११५ |
| १९–साधन-सिद्धि [ कहानी ] (श्री'चक्र') | १११९ |
| २०–कामके पत्र | ११२२ |
| २१–गुरुपूजनका पावन पर्व ( श्रीगौरीशंकर गुप्त ) | ११२६ |
| २२–वर्तमान दुःखोंके नाशका उपाय और सच्चा विकास | ११२७ |
| २३–यान्त्रिक कसाईखाने ! ( श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री, एम्० ए० ) | ११२९ |
| २४–मांस-अंडेका भोजन और चमड़ेका व्यवहार तुरंत त्याग करें | ११३३ |
| २५–पुराणोंमें दिव्य उपदेश | ११३४ |
| २६–परस्पर सहयोग (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड० ) | ११३६ |
| २७–पढ़ो, समझो और करो | ११३७ |


## चित्र-सूची


| | | |
|---|---|---|
| १–नागफण-नचैया | ( रेखाचित्र ) | मुखपृष्ठ |
| २–दिव्य विमान-विराजित भगवान्की ध्यान-मूर्ति | ( रंगीन ) | १०७७ |


वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
( १५ शिलिंग )

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
( १० पेंस )

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

दिव्य विमान-विराजित भगवान्की ध्यान-मूर्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥


वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२१, अगस्त १९६४ { संख्या ८ पूर्ण संख्या ४५३


# दिव्य विमान-विराजित भगवान्‌का ध्यान

उड़ा जा रहा प्रकृतिपर रथ-विमान आकाश ।
मानो हैं हय चल रहे, हरि-पग-तल-रथ-रास ॥
दिव्य रत्नमणि रचित अति द्युतिमय विमल विमान ।
चिदानन्दघन सत् सभी वस्तु-साज-सामान ॥
अतुल मधुर सुन्दर परम रहे विराजित श्याम ।
नव-नीरद-नीलाभ-वपु मुनि-मन-हरण ललाम ॥
पीत वसन, कटि किंकिणी, तन भूषण द्युतिधाम ।
कंठ रत्नमणि सौरभित सुमन हार-अभिराम ॥
मोर-पिच्छ-मणिमय मुकुट घन घुँघराले केश ।
कर दर्पण मुद्रा वरद विभु-विजयी वर-वेश ॥
शोभित कलित कपोल अति अधर मधुर मुसुकान ।
पाते प्रेम समाधि, जो करते नित यह ध्यान ॥

# कल्याण

याद रक्खो—भगवान् एक हैं। वही ब्रह्म हैं, वही परमात्मा हैं, वही भगवान् हैं। तत्त्वतः एक होनेपर भी उनकी साधनामें भेद है। अद्वैतज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, योगसे परमात्मा मिलते हैं, भक्तिसे भगवान् मिलते हैं। पर जिनको 'प्रियतम' रूपसे भगवान्‌को प्राप्त करना है उनके लिये एकमात्र प्रेम ही परम साधन है।

याद रक्खो—ज्ञानके साधनमें नित्यानित्य वस्तुका विचार, वैराग्य, शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान-रूप षट् सम्पत्ति, मोक्षकी तीव्र इच्छा आवश्यक है, तदनन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिसे उदित ब्रह्माकार-वृत्तिके द्वारा प्रपञ्चका परिहार करके ब्रह्ममें स्थिति प्राप्त करना होता है। परमात्माकी प्राप्तिमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—इस अष्टाङ्गयोगकी साधना आवश्यक है। भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवद्गुणानुवादका श्रवण-कीर्तन, भगवान्‌के निर्मल चरित्रोंका चिन्तन, भगवान्‌के पवित्र नामोंका जप-कीर्तन, नवधा भक्तिके साथ ही सत्संग, भजन एवं भगवान्‌के दर्शनकी तीव्र एवं अनन्य इच्छा परम साधन है और 'प्रियतम'रूपसे भगवान्‌की प्राप्तिमें भजन आदिके साथ ही प्रेम परमावश्यक साधन है।

याद रक्खो—प्रेमकी मूल भित्ति त्याग है। त्यागके बिना प्रेमका प्रादुर्भाव नहीं होता। किसी वस्तु, पदार्थ, परिस्थिति, आश्रम या कर्मका त्याग आवश्यक नहीं है। त्याग होना चाहिये 'स्व-सुख-इच्छा'का। इहलोक, परलोक तथा दिव्य लोकादिके भोग-सुखोंकी ही नहीं, मोक्ष-सुखकी इच्छाका लेश भी प्रेममें बाधक है। जिसमें केवल प्रियतमके सुखकी ही एकमात्र सहज अभिलाषा और चेष्टा है, अन्य किसी प्रकारकी किसी भी वासनाकी कल्पना भी नहीं है। इस प्रकार लोक-परलोकके भोग तथा कैवल्य मोक्षकी वासनासे शून्य प्रियतमके सुखार्थ समस्त भोग-त्यागका उपयोग ही प्रेम है। यह प्रेम हृदयकी वस्तु होता है, बाहर दिखानेकी नहीं। यह गुणरहित, कामनारहित, नित्य अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर, अनुभवरूप और क्षण-क्षणमें उत्तरोत्तर बढ़नेवाला होता है। इस प्रेम-समुद्रमें मधुरतम भावोंकी अनन्त विचित्र सरल-वक्र तरङ्गें उछलती रहती हैं। प्रेमास्पद प्रियतम-का सुख-साधन ही उन सारी तरङ्गोंका मूल कारण और परम उद्देश्य रहता है।

याद रक्खो—यह प्रेम परम दुर्लभ है, परंतु प्रेमी जनोंकी कृपासे अति सुलभ भी है। प्रेमीजन वे ही हैं जो भुक्ति-मुक्तिकी अभिलाषाका त्याग करके प्रियतम यन्त्रीके हाथके खिलौने बने उनके इच्छानुसार क्रीड़ा कर रहे हैं, जिनमें अपने लिये अपनी स्मृति ही नहीं रह गयी है। ऐसे प्रेमीजनोंकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये। यह कृपा मिलती है उन प्रेमीजनोंके परम त्यागपूर्ण, परम भावमय एवं परमपावन रस-साधनाका अनुसरण करनेसे।

याद रक्खो—प्रेमीके प्रियतम भगवान् सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म होते हुए भी प्रेमीके लिये नित्य-सत्य परमानन्द-सौन्दर्य-माधुर्यनिधि, अचिन्त्यानन्त-अनिर्वचनीय दिव्य परस्परविरुद्ध गुणधर्माश्रयस्वरूप नित्य-निरन्तर प्रेमरसास्वादन करने तथा करानेमें प्रवृत्त रहते हैं। सर्वलोकमहेश्वर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होते हुए ही प्रेमीके लिये प्रेमाधीन रहते हैं और प्रेमीजनको अपना प्रेमास्पद बना लेते हैं।

'शिव'

# ज्ञानके अमोघ साधन

( लेखक—दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास )

ज्ञान निर्मल और पवित्र करनेवाला है। अशुभसे बचानेवाला, तारनेवाला है; परंतु उसे आचरणमें लाना चाहिये। जगत्‌में ज्ञान कथन करनेवालोंकी कमी नहीं है। सब आदमी दूसरेको ज्ञानका उपदेश थोड़ा-बहुत दे सकते हैं, परंतु वे स्वयं दूसरोंको जो ज्ञान देते हैं, उसका स्वयं आचरण नहीं करते। जैसे भोजन किये बिना भूख नहीं मिटती, उसी प्रकार ज्ञानका आचरण किये बिना फल नहीं मिलता। अतएव ज्ञानका आचरण करना चाहिये। ज्ञानका जितना आचरण किया जाय, भोगका जितना त्याग किया जाय, उतना ही सुख प्राप्त होता है। जिस ज्ञानका वक्ता उस ज्ञानके आचरणसे हीन होता है, उसके कहे हुए ज्ञानका सुननेवालोंके ऊपर कोई असर नहीं होता। ज्ञानको आचारमें उतारनेके लिये नीचे लिखे अभ्यासोंमें जो सुगम जान पड़े, उसका पहले नियम ले लेना चाहिये और उसका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये। एक नियमके आग्रहपूर्वक पालन कर लेनेपर दूसरे अनेकों नियमोंके पालनमें बल मिलता है। एक सद्गुण अनेक सद्गुणोंको अपने साथ लाता है, इसी प्रकार एक दुर्गुण अनेक दुर्गुणोंको लाता है। नियम इस प्रकार हैं—

**१—सत्य-भाषण**—जो कुछ जानते हो वही बात बोलो। ठीक जानकर उसे समझकर बोलना चाहिये, कभी किसी अवसरपर अन्यथा नहीं बोलना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि किसीका प्राण बचानेमें, आजीविकाका नाश न होने देनेमें, विवाहके प्रसंगमें, उपहासमें और स्त्रीके प्रसङ्गमें असत्य बोलनेमें कोई हर्ज नहीं है, परंतु यह व्यवहारकुशलताकी नीतिविषयक बात है, धर्मविषयक नहीं है, सत्यव्रतीके लिये यह नहीं है। सत्यका व्रत लेनेवाला किसी भी दशामें, चाहे जो कुछ भोगना पड़े, असत्य नहीं बोलता। सारे ब्रह्माण्डके नाशकी अपेक्षा सत्यका नाश विशेष हानिकारक है। सत्यका तपोबल, सत्यका तेज अपरिमित है। उस तेजसे अनेक विघ्नोंका नाश होता है। सत्यवादीकी रक्षा सत्य ही करता है, अतएव इस नियमके लेनेवालोंको सत्यका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

**२—प्रिय-भाषण**—यह एक सुन्दर वशीकरण मन्त्र है। प्रियवादी सबको प्रिय लगता है। अवश्य ही प्रिय बोलकर ओछी खुशामद करना ठीक नहीं है। प्रियवादीको असत्य नहीं बोलना चाहिये। प्रियवादी जो कुछ बोले—कोमल और मीठी वाणी बोले। ऐसी वाणी बोले कि सुननेवालेको आघात न लगे। पूर्वकालके इतिहासमें कोई राजा प्रियवादी हुआ है, कोई सत्यवादी तथा कोई मितवादी। इन एक-एक नियमोंके बलसे उनमें बहुत सामर्थ्य थी। ठग आदमी प्रिय वाणीसे ठगता है। व्यापारी नमक-मिर्च लगाकर बोलता है। प्रिय वचनमें इतना अधिक सामर्थ्य है कि उसके सामने अपना हित-अहित किस बातमें है, इसको मापनेकी शक्ति नहीं रह जाती। तब जो सबका हित चाहते हुए सत्ययुक्त प्रिय बोलता है तो उसका कितना अमित प्रभाव पड़ता है। अप्रिय किसीको अच्छा नहीं लगता; तिरस्कार, कटुवचन, गाली आदि पशुको भी नहीं रुचते। पशु भी प्रिय वाणीसे आनन्दित हो उठता है। प्रिय बोलनेके नियमका अभ्यास करनेसे बहुत शुभ होता है।

**३—हित-भाषण**—ऐसी बात न बोले, जिससे किसीका अनहित हो। बोले तो सत्य, प्रिय और हितकर बात बोले, नहीं तो, मौन रहे। जिससे दूसरेका अहित हो—उसे न चाहे और न बोले तथा न उसका आचरण करे। सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलनेका तप यदि एक साथ हो तो यह अपूर्व बल

है। शास्त्र कहते हैं कि सत्यमें स्थिर होनेपर मनुष्यकी वाणी अमोघ हो जाती है। वह जो बोलता है, वही हो जाता है। इससे शक्ति प्राप्त होती है। यह सच बात है तथापि इस शक्तिको प्राप्त करनेके लिये यह नियम न ले। सत्यकी उपासनाका फल इतना ही नहीं है। इससे कहीं अधिक फल प्राप्त हो सकता है। सत्यवादी-की बाह्य-परीक्षाके लिये इस दृश्य फलको लिखा गया है। इसके सिवा सत्यवादी निर्भय होता है, सत्यवादी निश्चिन्त होता है, सत्यवादी किसीसे दबता नहीं, सत्यवादी अपने तपसे पुण्यलोकको प्राप्त होता है और यदि उसको भोगकी इच्छा न हो तो केवल सत्यके सेवनसे वह मुक्ति प्राप्त करता है।

**४—चोरी न करना**—मालिकसे बिना कहे कुछ लेना चोरी है। इस नियमका पालन करनेवालोंको ऊँचा उठना चाहिये। किसी भी वस्तुको लेते समय पहले पता लगा ले कि इसका मालिक कौन है। रास्ते चलतेमें पेड़से दाँतौन तोड़ते समय भी उसके मालिकसे पूछना चाहिये। नौकरको अपने मालिकके यहाँ उसके कागज, पेन्सिल, स्याहीको अपने काममें नहीं लाना चाहिये। जाने या अनजाने दूसरेकी कोई वस्तु नहीं ले, लेनेकी इच्छा भी न करे। नौकरी करते समय कामके समयका उपयोग अपने लिये नहीं करना चाहिये। पर-स्त्रीपर कुदृष्टि करना भी चोरी है। भोगकी इच्छा करना भी चोरी है। अपने घरमें भी अपने लिये जो वस्तु न बनी हो, उसे लेना चोरी है। इस नियमको पालन करनेवाला जैसे-जैसे आचरणमें लाता है, वैसे-वैसे निर्मल और निर्भय होता जाता है। वह, क्या चोरी है और क्या चोरी नहीं है, उसे स्वयं समझता है। अन्तरात्मा ही न्यायपूर्वक इसको बतला देता है। क्या सच है, यह भी वह यथावत् जानता है। इसलिये किसी भी नियमके उपासकको नियमके पालनमें लग जाना चाहिये, तर्कका आश्रय नहीं लेना चाहिये। आचरण करते-करते सारी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं, और शक्ति प्राप्त होती है।

**५—परनिन्दा न करे**—जो व्यक्ति सामने न हो, पीछेसे उसकी चर्चा तथा उसके दोषकी बात न करे। परनिन्दा करनेवालेके हृदयमें दूसरेका बुरा हो, इसकी सूक्ष्म वासना होती है। दूसरेका बुरा होनेपर स्वयं प्रसन्न होनेकी वासनाके सिवा इसमें कोई अच्छाई नहीं है। परनिन्दासे परको सुधारनेकी इच्छा तो होती नहीं, बातका रस लेने, समयका दुरुपयोग करने, दूसरेका बुरा होनेपर प्रसन्न होनेवाला प्राणी ही परनिन्दा करता है। अतएव परनिन्दा सर्वथा त्याज्य है। परनिन्दामें असत्य बोलना पड़ता है, द्वेष तो इसके मूलमें ही होता है।

**६—क्रोध न करना**—यह शुभमार्गमें ले जानेका अमोघ साधन है। जिसके हृदयमें लेशमात्र भी विकार नहीं, वह साधु है। क्रोध दुर्बलता है, क्रोध भयवालेको होता है। क्रोध पामरको होता है, क्रोध आलसीको होता है, क्रोध दूसरेके ऊपर आशा बाँधनेवालेको होता है। क्रोधमें झूठ, द्वेष, हिंसा, अप्रियता सब भरी होती है। क्रोधका सर्वथा त्याग होकर अन्तरमें अखण्ड शान्ति आये बिना कभी मुक्ति होनेवाली नहीं है। क्रोध क्रोधी-के ही शरीरको जलाता रहता है, उसीकी शक्तिका नाश करता है। उसीकी बुद्धिको भ्रममें डालकर उसको सारासार-विचारहीन कर देता है। क्रोध न करने योग्य कर्म कराता है, न बोलने योग्य बात कहलवाता है। क्रोध करनेसे होनेवाला कुप्रभाव पहले क्रोधीके ऊपर पड़ता है, पश्चात् दूसरेके ऊपर पड़ता है। क्रोधका मूल मोह, असफल काम, अन्याय, दुस्साहस, बिना विचारे कार्य और सम्भोग होता है। जिसने क्रोधको जीत लिया उसने मनको जीत लिया। जिसने मनको जीत लिया उसने मुक्ति प्राप्त कर ली। ज्ञानको, समझको, बुद्धिको, कीर्तिको, प्रतिष्ठाको, सर्वबलको, तपको—इन सबको नष्ट करनेवाला अपना क्रोध है। अनेक वर्षोंका तप,

अनेक जपका बल, अनेक पुण्यका संचय, एक बारके क्रोध करनेसे नष्ट हो जाता है। अपूर्व शान्ति इस क्रोधको जीत लेती है।

जिसके सम्पर्कमें जाना पड़े, उसके सम्पर्कमें जानेके पहले उस मनुष्यको जान ले कि वह किस प्रकृतिका है। रजोगुणी और तमोगुणीके सम्पर्कमें जानेपर आकुलता होती है। जैसे बलवान् शत्रुके सामने राजा लड़नेकी बड़ी तैयारी करता है, उसी प्रकार तमोगुणी और रजोगुणी मनुष्यके सामने खूब शान्ति रक्खे। शान्ति सहज बल है, शान्ति महान् गुण है। सारे ब्रह्माण्डका नाश हो जानेपर शान्ति बच रहती है और वह फिर सबको उत्पन्न करती है। शान्तिका अर्थ है मनका अक्षय बल। जो शान्ति ऊँची-से-ऊँची है, वह कैसे प्राप्त हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि अपनी मृत्यु भी सामने आ जाय तो भी शान्तिके पथसे तनिक भी विचलित न हो। ऐसी शान्ति सहज ही नहीं प्राप्त होती, ऐसी शान्ति बड़े साधनका फल है। इसी शान्तिके कारण विष्णु पूजे जाते हैं। जिसमें जितनी अधिक शान्ति होगी, उसमें उतना अधिक सुख होगा। चित्तकी अखण्ड शान्ति बल है। यही वैभव है, यही देवत्व है, यही सुख है, यही आनन्द है, यही मुक्ति है, निर्विकार चित्त ही मुक्तावस्था है।

**७-ऋण न करे**—इस नियमका पालन करनेसे बहुतसे दुःख घट जाते हैं। तेज और प्रताप बढ़ता है, मनुष्य उद्यमी होता है। परमुखापेक्षा नहीं करनी पड़ती। दूसरेकी खुशामद नहीं करनी पड़ती। निश्चिन्तता आ जाती है। निर्भय होकर मनुष्य सोता है। मृत्यु आनेपर निर्भय होकर मरता है। किसी भी संयोगमें एक पैसेके लिये भी ऋण न करे। जिससे धन ले, उसे वापस कर दे। किसीकी कोई वस्तु ले तो उसे भी दे दे। ऋण न करना ही बड़ा अच्छा है। धन या धनके बदलेकी वस्तुके लिये भी यही लागू होता है। घरमें साँप आया हो, उसको पकड़नेके लिये पड़ोसीकी सड़ँसी माँगकर लाते हो तो यह भी ऋण है। उसे वापस देनेमें इस नियमका पालन होता है। पुस्तकालयसे पढ़नेके लिये पुस्तक लानेवाला भी इस नियमसे बँध जाता है। जिसका मूल्य देना है, रुपया पास न रहनेसे उसको देनेका वादा करनेका नाम भी ऋण है।

**८-परस्त्रीपर दृष्टि न डालना और चलते समय जमीनपर दृष्टि रखकर चलना**—इस नियमका पालन करनेवाला अनेकों विकारों और इच्छाओंसे बच जाता है। काँटे-कंकड़से तथा विषैले प्राणियोंसे बचता है। जीव-हिंसासे बचता है एवं उसका मन स्थिर और शान्त रहता है।

**९-भोजन करते समय न बोलना और अन्नकी निन्दा न करना**—यह नियम साधारण है, परंतु चित्तकी असंख्य वृत्तियोंको दबानेमें यह भी सहायक होता है। इससे रसनेन्द्रिय और क्रोध दोनोंको जीतनेमें बल मिलता है, शान्ति रहती है तथा बिना उपद्रवके भोजन होता है। प्रारब्धवश प्राप्त, शरीरके लिये दुःखजनक न हो, ऐसा भोजन करनेसे संतोष और शान्ति दोनों ही प्राप्त होते हैं।

**१०-मौन रखना**—दिनमें जो समय अनुकूल हो, उसमें वाणीका मौन साधन करे। उस समय कागज या स्लेटपर लिखकर भी अपने विचार प्रकट न करे। इशारा भी न करे। एक जगह बैठा रहे। दौड़-धूप न करे। चित्तकी चञ्चलताको मिटावे, मनको शान्त रक्खे। मनको आत्मामें स्थिर करनेका एक सुन्दर उपाय मौन है। मौनमें बड़ी शक्ति है। वाणीका मौन यह आरम्भिक क्रिया है। यह मौन सिद्ध होनेपर अथवा सिद्ध करनेके अभ्यासके समय मनको मौन करनेका अभ्यास करे। सच्चा मौन मनका मौन है। मन निर्विचार रहे, संकल्प-विकल्परहित रहे, इच्छारहित रहे। यह मानस-मौन अत्यन्त ही सुखप्रद है।

# ॐ क्या है ?

( लेखक—श्रीडाह्याभाई मोतीभाई पटेल, बी० एस० सी०, लण्डन )

**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**
**तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**
**तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥**
**ओम् इत्येतत् ॥**

'सारे वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, सारे तप जिसकी प्राप्तिके साधन हैं; जिसकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं संक्षेपमें तुमसे कहता हूँ, 'ओम्' ही वह पद है ।'

'ॐ'का शास्त्रीय अर्थ है सच्चिदानन्दघन परमात्मा, परब्रह्म परमात्मा, अविनाशी परमात्मा इत्यादि। परमात्माका नाम लेकर ही सारे शुभ कर्म प्रारम्भ किये जाते हैं। ( गीता १७।२४) ऋग्, यजुः और साम—इन तीनों वेदोंमें वर्णित यज्ञादि कर्मोंका आरम्भ ॐकारसे ही होता है। ॐकारस्वरूप अक्षरकी, अर्थात् इसके अर्थस्वरूप अविनाशी परमात्माकी पूजाकी प्राप्तिके लिये, इसकी महिमा ( प्रभाव ) और रस ( शक्ति )का अनुभव करते हुए ॐकारका उच्चारण करता हुआ 'अध्वर्यु'नामक ऋत्विक् 'आश्रावण' करता है ( अर्थात् भगवत्प्रेममें अश्रु बहाता है ) । 'ॐ' मन्त्र ( मननात् त्रायते इति मन्त्रः )का उच्चारण करके 'होता' ( 'हु' धातुसे हवनकर्ता अर्थात् तपकी अग्निमें अपने सारे पापोंको भस्म करनेवाला )नामक ऋत्विज् शंसन करता है, मन्त्रोंका पाठ करता है। 'ॐ'का उच्चारण करके 'उद्गाता' ( उच्च स्वरसे मन्त्रका गान करनेवाला ) नामक ऋत्विक् 'उद्गीथ'का गान करता है।

जो इस रहस्यको इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों इस ॐकारसे पूजादि कर्म करते हैं। इसके वास्तविक रहस्यको बतानेवाली विद्याके द्वारा इसके तत्त्वको समझकर साधक श्रद्धापूर्वक जो कुछ करता है, वह अधिकारसे अधिक सामर्थ्ययुक्त होता है। यही इस ॐकाररूप अक्षरकी प्रसिद्ध व्याख्या अर्थात् महिमा है।

गायत्री मन्त्रके प्रारम्भमें तीन महाव्याहृतियोंके द्वारा ॐकी महिमा प्रकट की गयी है। यह मन्त्र ॐकारकी व्याख्या है।

**ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ।**

इस मन्त्रके प्रारम्भमें ॐ अर्थात् अ+उ+म् ( प्रथम दो स्वर, तीसरा अनुस्वार है ) इन तीन स्वरोंमें अधिचैतन्य स्वारीरूपमें व्यक्त हुआ है। इसके आगे तीन महाव्याहृतियाँ हैं। भूःका अर्थ है पृथिवी, भुवःका अर्थ है अन्तरिक्ष और स्वःका अर्थ है स्वर्ग या द्युलोक। पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—इन तीनों लोकोंको यह गायत्रीमन्त्र आवृत करता है।

मेरे विचारसे भूः पद धारयित्री अर्थका द्योतन करता है। इसका ऋग्वेद है, और ऋत्विक् यह बताता है कि यज्ञमें पृथिवी कैसे धारयित्री है। भुवः अन्तरिक्ष है, हृदय है, अन्तरमें देखना है, हृदयङ्गम ज्ञान है। यज्ञमें अध्वर्यु यजुर्वेदके अनुष्ठानात्मक मन्त्रोंसे हृदयमें भरे हुए पाप-पुण्यके पुञ्जको हटानेका प्रयत्न करता है। सबसे ऊँचा जो स्वः अर्थात् स्वर्ग है, उसका सामवेदके मन्त्रोंद्वारा उद्गाता दृढ मनसे तथा प्रभावशाली मस्तिष्ककी तर्कशक्तिसे गान करता है और उसको बतलाता है।

अगले आठ-आठ अक्षरोंके तीन चरणोंमें, सूर्यदेवकी जो ईप्सित तेजःशक्ति है, जिसके द्वारा सबका पालन-पोषण होता है तथा जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित और विकसित करती है, एवं जो सृष्टिके कार्यको संवर्द्धित करती है, उसकी पूजा ( जाप )की विधि है। यदि

सूर्यका प्रकाश न हो तो सब अन्धकारमय हो जाय और जीवन-जगत्का व्यवहार ही न चले। यह गायत्री हमारी कामदुघा गौ है। 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री', अर्थात् यह मन्त्र अपने गान करनेवालेका त्राण करता है। मन्त्र देवताका स्वरूप होता है।

सूर्यदेवके तेजमें एक अनन्य आनन्द चैतन्य है, जिसको आजकलका विज्ञान भी स्वीकार करता है। इन्द्र-धनुषका रंग देखनेमें कितना आनन्ददायक लगता है ! यह सूर्यदेवके प्रत्यक्ष श्वेतवर्णवाले तेजका, बादलके जलकणके द्वारा अति सुन्दर सप्तरंगी धनुषके रूपमें पृथक्करण है। ये सातों रंग सूर्यके तेजमें निहित हैं। आधुनिक विज्ञानके प्रसिद्ध आविष्कारक न्यूटनने सूर्यके तेजको 'प्रीज़म' के सात रंगोंमें विभक्त होते देखा होगा तो उसे कितना आनन्द प्राप्त हुआ होगा। आज वैज्ञानिक-प्रयोगशालामें छात्रगण भी इस दृश्यका आनन्द अपने प्रयोगद्वारा प्राप्त करते हैं। सारांश यह है कि जगत्के प्राणी-पदार्थमें जो रूप-रंग है वह सूर्यके तेजका करिश्मा है।

पृथिवीपर सूर्यका ताप पड़नेसे सरित्समुद्रादिके जलकण वाष्पके रूपमें उठकर अन्तरिक्षमें बादल बनते हैं। फिर उस बादलके जलकणोंमें इन्द्र-धनुष खिल उठता है, विद्युत् चमकने लगती है, बादल गरजता है और वृष्टिसे वनस्पतियाँ, ओषधियाँ, पशु-पक्षी, नर-वानर जीवनरस प्राप्त करते हैं। इस पोषक-तत्त्वसे आगे बढ़ता हुआ जीवन आनन्दसे प्रफुल्लित होता है। यह सूर्यदेवकी महिमा है, गायत्री-मन्त्र सूर्यदेवके इसी तेजका ध्यान कराता है।

इस गायत्री-मन्त्रका सारतत्त्व ॐ है। गायत्री मन्त्रके अक्षरोंकी पूर्ण संख्या २८ है। जो आगे पूर्णत्वकी ओर जाती है। (१+३+८+८+८= पूर्ण योग २८ है, इसके पृथक् उत्पादकोंका योग, जैसे १+२+४+७+१४=२८, इस प्रकार सरकते हुए उत्पादकोंका योग भी २८ है और अन्तिम उत्पादक २८ है जो पूर्णत्वका बोधक है।

'ॐ' का एक और अभिप्राय निकलता है। ॐकारके ही रूप 'ओं-ओं' तथा 'ॐ-ॐ' हैं। बालक जन्म लेते समय जब मातृयोनिसे बाहर निकलता है, तब रुदन करता है और सहज ही उसके कण्ठसे 'ॐ-ॐ' की ध्वनि निर्गत होती है। उसको 'ॐ-ॐ' कोई सिखलाता नहीं है। नवजीवनके प्रभातमें इस 'ॐ-ॐ' की ध्वनिके साथ माताको कितना आनन्द प्राप्त होता है और वह बालक कितना रुदन करता है। नव-जीवनकी प्राप्तिमें माता आनन्दित होती है और विगत जीवनके विछोहमें बालक रुदन करता है। ॐकारकी ध्वनि जीवन-मृत्युके रहस्यका स्मारक है।

जबतक बालक माताके गर्भमें रहता है, वह सुषुप्त-अवस्थामें रहता है। गाढ़ निद्राके समान सुषुप्तावस्थामें सुख-दुःखका कुछ भान नहीं होता। नया जन्म धारण करनेपर नये वातावरणमें अत्यन्त असहाय अवस्थामें अपनेको पाकर शिशु रुदन करता है। वह असहाय अवस्थामें भगवान्को याद करता है और उसके मुखसे 'ॐ-ॐ' की दर्दभरी पुकार उठती है। मेरे विचारसे इस 'ॐ-ॐ' में जन्म लेनेकी व्यथाका Pathos भी है। इस 'Pathos' अर्थात् करुणामयी ध्वनिमें जन्म-जन्मान्तरका रहस्य छिपा है, जीवकी वेदना छिपी है। संक्रमण-कालमें शिशुको जो विगत जन्मकी स्मृति होती है, उसको नवजीवनमें बढ़नेके साथ-साथ वह विस्मृत हो जाता है। अतएव जीवको इसका ज्ञान नहीं होता, भगवान्को तो सब ज्ञान होता ही है। अतएव भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**
**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥**

अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ॐ' ही जीवका एकमात्र आधार है। यह जीवन-मन्त्र है। इस जीवन-

मन्त्रको सारे ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक यज्ञोंमें ( ऋक्-यजु-सामके रूपमें ) पहचानना चाहिये। यह जीवनका पोषक तत्त्व है। अपने जीवनको पोषक तत्त्वसे संचालित करना चाहिये, विघातक तत्त्वसे नहीं। इस ज्ञानमें जीवन-यज्ञके 'अध्वर्यु', 'होता' और 'उद्गाता'के पृथक्-पृथक् विभाग हैं। जो अपने अघ ( पाप ) का हनन करके ॐक. गान करते हैं, वे सहज ही भवसागरसे तर जाते हैं। जो सच्चे ज्ञानके मार्गसे भ्रष्ट होते हैं, वे पापपुञ्जमें गिरते हैं, भवसागरमें गोता खाते हैं। 'ॐ' पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका खुला मार्ग बतलाता है। श्रुति कहती है—

**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।**
**अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥**
( मुण्डक० २। २। ४)

प्रणव अर्थात् ॐ धनुष है। आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है, जो प्रमाद छोड़कर इस धनुषके द्वारा आत्मारूपी बाणसे ब्रह्मरूप लक्ष्यको भेदता है, वह तन्मय हो जाता है, ब्रह्ममें मिल जाता है। उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। जन्म-मृत्युकी व्यथासे वह पार हो जाता है। यह ॐकारकी उपासनाकी महिमा है।

ॐकारके तीन अक्षर अकार, उकार और मकार सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके हेतु ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप हैं। ॐके उच्चारणसे इन तीनोंका आवाहन होता है। जो उच्च स्वरसे इस मन्त्रको पवित्र वाणी, पवित्र मन और पवित्र हृदयसे हृदयङ्गम करता है, भावपूर्वक गान करता है, वह जीवनकी गूढ़ताको जानकर प्रकृति माताकी गोदमें आनन्दसे विचरण करता है और अमृतत्वको प्राप्त करता है।

वेदोंका सारतत्त्व गायत्री है और गायत्रीका सारतत्त्व ॐकार है। अतएव वेद-मन्त्रोंका प्रारम्भ ॐकारसे होता है। यहाँ पाठकोंके लाभार्थ वेदमन्त्रोंमेंसे कुछ अपनी रुचिके अनुसार मन्त्र नीचे दिये जा रहे हैं। इनके पाठसे लाभ उठाया जा सकता है—

**१. ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।**
**कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः॥**

**२. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥**

**३. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।**
**ॐक्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर॥**
( ईशावास्य० )

**४. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥** ( केन० )

**५. ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥**
( कठ० )

**६. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**
**तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**
**तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओम् इत्येतत्॥**
( कठ० )

**७. ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥**

**८. ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥** ( प्रश्न० )

**९. ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव**
**विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।**
**स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-**
**मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥**

**१०. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।**
**अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥**
( मुण्डक० )

**११. हरिः ॐ। ब्रह्मवादिनो वदन्ति—**
**किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता**
**जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।**
**अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु**
**वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥**
( श्वेताश्वतर० )

# शौव-उद्गीथ

( लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए० )

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेदका प्रसिद्ध उपनिषद् है। यह अनेक विद्याओंका भाण्डार है और अत्यन्त क्लिष्ट माना जाता है। इसमें आठ अध्याय और १५४ खण्ड हैं। उन्हींमें पहले अध्यायके बारहवें खण्डकी संज्ञा शौव-उद्गीथ है।

१।१२ में उद्गीथकी बड़ी विचित्र व्याख्या की गयी है। उसे शौव-उद्गीथ कहा है। अर्थात् कुत्तेका भौंकना, यही उद्गीथका स्वरूप है। कथा है कि बक दाल्भ्यने स्वाध्यायके लिये जाते हुए एक सफेद कुत्तेको देखा। उसे और कुत्तोंने घेरकर अपने लिये अन्नकी याचना की। उसने उन्हें अगले दिन प्रातःकाल बुलाया और जैसे उद्गाता बहिष्पवमान स्तोत्रका गान करते हुए, हाथ-में-हाथ मिलाकर, मण्डलमें घूमते हैं, वैसे ही उसने किया। उनके गानका अभिप्राय यह था—हे वरुण, हे प्रजापति! हमारे लिये अन्न लाओ कि हम खायें और पीयें।

इस कहानीका आशय यह है कि हर एक प्राण-केन्द्रमें आया हुआ मध्यप्राण ही इन्द्र है। वेदोंमें उसे भौंकनेवाला कुत्ता कहा है—

**शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्।** (ऋ० ३।३०।२२)

जबसे वह शरीरमें आता है, तबसे जन्मपर्यन्त बराबर शब्द करता है। वस्तुतः मध्यप्राण या मुख्यप्राण ही श्वेत कुत्ता है। वह जिस केन्द्रमें अवतरित होता है, दूसरे सब प्राण उसे चारों ओरसे घेर लेते हैं और उससे अन्नकी याचना करते हैं। प्राण और अन्न इनका संयोग ही अध्यात्म उद्गीथ है। इसी कथाको शतपथ ब्राह्मणमें दूसरे ढंगसे कहा है कि जब मुख्यप्राण, जिसकी संज्ञा इन्द्र है, इस शरीरमें आया, तब वह रुदन करने लगा और देवोंने कहा, इसे अन्न दो। अन्न पाकर वह शान्त हुआ। उसकी संज्ञा रुद्र या कुमार है। यही प्राण या अन्नका स्पन्दनात्मक सम्बन्ध शौव-उद्गीथ कहा गया है। जो समृद्धिको प्राप्त होता है, वह 'श्वा' है। उसे ही 'मातरिश्वा' भी कहते हैं; क्योंकि वह प्राण मातृ-कुक्षिमें या पञ्चभूतोंमें बढ़ता है। यह जो आकाशमें अग्निका महान् पिण्ड सूर्य है और जो स्वर या शब्द करता हुआ विचरता है, यही श्वेत श्वा या सफेद कुत्ता है, यही इन्द्र है। आकाशादि पञ्चभूत इसके स्वर हैं। आकाशसे ही समस्त स्वर या शब्द उत्पन्न होते हैं। बहिष्पवमान एक स्तोत्रकी संज्ञा है, जो देव और मनुष्योंका भक्ष्य अन्न कहा जाता है—

**उभयेषां वा देवमनुष्याणां भक्ष्यो यद् बहिष्पवमानः।** (ऐ० ब्रा० २।२२)

देव अमृत प्राणके और मनुष्य मर्त्य भूतोंमें प्रविष्ट प्राणके प्रतीक हैं। दोनोंको भक्ष्य या अन्न चाहिये। प्राण और अन्नका युग्म यही सबसे बड़ा उद्गीथ है जिसे यहाँ शौव-उद्गीथ कहा है। हम खायें, पीयें और मस्त रहें। हे देव वरुण, हे प्रजापति! हमें अन्न दो। यही भूतस्थ प्राणोंकी दिन-रात पुकार है। जो मध्य प्राण या नभ्य इन्द्र है, उसे श्वेत श्वा कहा गया है। उसकी अपेक्षा अन्य प्राणोंकी संज्ञा शबलित श्वा होनी चाहिये।

प्राण और अपानको यमके शबलित श्वा कहा गया है। एक रंगसे दो रंगोंका होना यही शबलता है। एक रंग श्वेत रंग है। वेदोंमें इन्द्रको श्वान और उसकी शक्ति या वाक्को सरमा कहा गया है। सरमाने इन्द्रकी प्रेरणासे पणियोंद्वारा गुफामें छिपायी गयी गौओंका पता लगाया

था । देवशुनी और इन्द्रात्मक श्वानका रूपक, वैदिक-कालसे ही प्रचलित हो गया था ।

यहाँ यज्ञमें पवमान और बहिष्पवमान दो स्तोत्रोंकी कल्पना की गयी है । पवमान प्राण और बहिष्पवमान अन्नका प्रतीक है। जैसा गीतामें कहा है—प्राण अन्नको खानेवाला वैश्वानर अग्नि है ।

**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।**
**प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥**

वैश्वानर अग्नि भी प्राणाग्नि है, उसे ही यहाँ श्वेत श्वा कहा गया है । वह रात-दिन अन्न खाकर बढ़ रहा है । और सब प्राणाग्नियाँ वैश्वानरसे ही अन्नकी याचना करती हैं और उसीके रससे पुष्ट होती हैं । शारीरिक शक्तिका या जीवनका मूल तत्त्व प्राणरूपी स्पन्दन है ।

**प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् ।**

संकोच और विकास यही प्राणके स्पन्दनस्वरूप हैं । स्पन्दनकी ही व्याख्या छान्दोग्यमें उद्गीथके रूपमें की गयी है । शौव-उद्गीथको टीकाकार प्रायः कुत्तेका भोंकना कहकर उसका उपहास करते हैं; किंतु वैदिक परिभाषाओंकी दृष्टिसे उसकी व्याख्या स्पष्ट है । प्राण और वाक्के वैदिक संकेत अनेक हैं । ऋषियोंके लिये वे स्पष्ट और सरल थे । उन प्रतीकोंके द्वारा ही वेदार्थ-तक गति सम्भव है ।

# फूल बननेके लिये

बुद्धि-प्रासादकी सबसे ऊँची अट्टालिकापर बैठा-बैठा, बिना किसी विचारके येन-केन-प्रकारेण सभीको अपने काममें लाते हुए, अपनी समझमें अपनेको खूब फैला-पसराकर, फूल-फूलकर गड़गज होता रहा मैं····उम्र भर····गर्वमिश्रित हर्षसे ।

लेकिन आज जीवनके इस अन्तिम क्षणमें, प्रातःप्रदीप-से टिमटिमाते मुझमें जाने कौन !—कौन-कौन ! —अपना ही अन्तस् रह-रहकर कुरेदनी कर रहा है—

'हृदय-पदमें रजःकणकी तरह पड़े रहकर, भेद-भाव भूल, इस-उसके काम तो आये ही नहीं, बिना भानके लाने-लानेमें ही लगे रहे काममें सबको । सब करके भी क्या किया !—बोलो अब !''

कुरेदनीका पैना पर अद्भुत है । सहज मर्मको वेध-छेद जाती है वह । फलतः गर्व मेरा कटकर रह जाता है, हर्ष खोकर और स्वयं मैं प्रातःप्रदीप-सा ही बुझकर । पर····पर तत्क्षण ही ज्ञान-प्रभातमें कली-सी जगकर भी····फूल बननेके लिये····वह फूल, सबके सब तरह काममें आना ही जिसका सहज स्वभाव है ।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

# मधुर

प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमें श्रीराधा नित्य-निरन्तर आँसू बहाया करतीं, बड़ी उदास रहतीं, साथही कभी-कभी क्रन्दन करते-करते ही उनकी इस प्रकारकी मुख-मुद्रा बन जाती मानो वे अनन्त सुख-सुधा-सागरमें गोते लगा रही हों और उनकी ऐसी स्थिति दीर्घकालतक बनी रहती। एक दिन एक अन्तरंग सखीने पूछा—राधे! तुम रात-दिन क्रन्दन करती रहती हो, तुम्हारा रोना कभी रुकता ही नहीं। उस रोनेमें ही—रोना बंद न होनेपर भी, बल्कि क्रन्दनमें तीव्रता आ जाती है, पर तुम महान् प्रसन्नमुखी दिखायी देती हो। वियोगकी अत्यन्त दारुण पीड़ामें ही संयोग-सुखकी-सी प्रसन्नता दिखलायी देती है। संसारमें प्रियवियोगजनित पीड़ाके समय अन्य किसीमें भी ऐसी सुखानुभूति नहीं देखी जाती। वहाँ तो जलना-ही-जलना रहता है; अतः बताओ इसका क्या रहस्य है? इसपर श्रीराधाजीने संयोग और विप्रलम्भ—संयोग और वियोग-रतिका रहस्य समझाकर कहा—

सखि! संयोग-वियोग श्यामका
मेरे लिये सुखद सब काल।
पल-पल वर्द्धनशील प्रेममें
बाधाको न स्थान भर बाल॥
जब होता दर्शन है प्रियकी
रूपमाधुरीका प्रत्यक्ष।
जब मैं अपलक उन्हें निरखती
हूँ मुसुकाते मधुर समक्ष॥
जब उनका आलिङ्गन कर मैं
पाती हूँ मन परमानन्द।
तब माना जाता है वह
शुचितम सुखमय संयोग अमन्द॥

सखि! श्यामसुन्दरका संयोग और वियोग दोनों ही मेरे लिये सदा-सर्वदा सुखप्रद हैं। पल-पलमें बढ़नेके स्वभाववाले प्रेममें बालभर भी—जरा-सी भी बाधाको स्थान नहीं है। जब मुझको प्रियतम श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जब मैं उनको अपने सामने निर्निमेष नेत्रोंसे निरखती रहती हूँ और उनको जब हृदयसे लगाकर मैं अपने मनमें परमानन्दको प्राप्त करती हूँ तब उसे परम पवित्र सुखमय श्रेष्ठ 'संयोग' माना जाता है।

जब मैं देख न पाती प्रियको
लगता चले गये वे दूर।
व्याकुल हो अधीर हो उठता
चित्त दुःखसे हो भरपूर॥
यद्यपि विरहानलकी ज्वाला
होती अति संतापिनि घोर।
लपटें अमित निकलतीं उससे
विविध भाँतिकी नित सब ओर॥
पर उन ज्वाला-लपटोंमें
सुस्पर्श सुशीतल सुधा अपार।
सदा निकलती रहती, करती
शुचि शीतलताका विस्तार॥
अगणित शारदीय शशधरका
सुधा-सुवर्षी ज्योत्स्ना-जाल।
कर सकता न कदापि सदृशता
उस शीतलताकी तत्काल॥

परंतु जब मैं प्रियतमको नहीं देख पाती, ऐसा लगता है कि वे दूर चले गये हैं, तब चित्त व्याकुल होकर अधीर हो उठता है और वह दुःखसे भरपूर हो जाता है। यही वियोग है। यद्यपि इस विरहाग्निकी ज्वाला अत्यन्त घोर संताप देनेवाली होती है; क्योंकि उस ज्वालासे सब ओर भाँति-भाँतिकी लपटें निकलती रहती हैं, परंतु उन ज्वालाकी लपटोंमेंसे एक सुस्पर्श (स्पर्शसे सुख देनेवाली) सुशीतल सुधाकी अपार धारा सदा

निकलती रहती है जो पवित्र शीतलताका विस्तार करती है। अनगिनत शारदीय चन्द्रमाओंकी सुधाकी सुन्दर वर्षा करनेवाली ज्योत्स्नाका जाल उस ज्वाला-लपटोंसे निकली शीतल सुधाकी समता उस समय कदापि नहीं कर सकता।

**हो जाती रति और तीव्रतम**
**बढ़ जाता स्मृति-सुख-संभार।**
**मनोवृत्ति हो जाती प्रियमय**
**बढ़ जाता आनन्द अपार॥**
**बाह्य भोग-विरहित जीवनमें**
**होता तुरत आन्तरिक योग।**
**विप्रलम्भमें अतुलनीय हो**
**जाता प्रकट दिव्य संयोग॥**
**अन्तर्ज्वाला बुझती, बहने**
**लगती अमित अमृत-रस-धार।**
**क्रन्दन हो उठता सुख-रस-**
**सागर न दीखता आर न पार॥**

तब रति और भी तीव्रतम हो जाती है। प्रियतम-के स्मृति-सुखकी सम्पत्ति बढ़ जाती है। मनोवृत्ति केवल प्रियतम श्यामसुन्दरमय हो जाती है और अपार आनन्दकी बाढ़ आ जाती है। उस समय बाह्यभोगसे रहित जीवनमें तुरंत आन्तरिक मिलन होता है, यों विप्रलम्भमें—वियोगमें अतुलनीय दिव्य संयोग प्रकट हो जाता है। अन्तरकी सारी ज्वाला बुझ जाती है और अमृत-रसकी अपरिमित धारा बहने लगती है। मेरा क्रन्दन उस समय इतना विशाल सुख-रसका सागर बन जाता है कि जिसका न यह किनारा दीखता है और न वह किनारा दिखायी देता है।

**सदा चाहती सखि! मेरा यह**
**बढ़ता रहे दिव्य क्रन्दन।**
**करते रहें सुशीतल अन्तर**
**आ-आकर प्रिय नँदनन्दन॥**
**मैं उनमें, वे मुझमें रहते**
**सदा बसे वास्तविक अभिन्न।**
**दो रूपोंमें लीला करते**
**पर न कभी होते विच्छिन्न॥**

सखि! मेरा यह दिव्य क्रन्दन सदा-सर्वदा बढ़ता ही रहे और प्रियतम नन्दनन्दन पधार-पधारकर मेरे अन्तरको सुशीतल करते रहें। यों तो मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं, वस्तुतः हम दोनों सदा अभिन्न हैं। दो रूपोंमें लीला करते हैं; परंतु कभी अलग होते ही नहीं।

**सखि! जो नहीं जानते पावन**
**प्रेमदेवका रूप-महत्त्व।**
**काम-कलुष-मन देख न पाते**
**वे वियोगमें सुमिलन-तत्त्व॥**
**विषयासक्त देह-सुख-कातर**
**कभी न पाते यह आनन्द।**
**देह-वियोग उन्हें करता ही**
**रहता नित्य दग्ध स्वच्छन्द॥**

सखि! जो लोग इस पावन प्रेमदेवताके स्वरूप एवं महत्त्वको नहीं जानते, वे कामकलुषित ( स्व-सुख-वाञ्छावाले ) लोग वियोगमें ऐसे सुन्दर मिलनके तत्त्वको देख ही नहीं पाते। देह-सुखके लिये आतुर वे विषया-सक्त मनुष्य इस आनन्दको प्राप्त नहीं कर सकते। उन्हें तो देहका वियोगानल स्वच्छन्दताके साथ सदा दग्ध करता ही रहता है!

श्रीराधाके श्रीमुखसे सखी इस विप्रलम्भ और संयोग-रतिके तत्त्वको सुनकर निहाल हो गयी।

# रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम

( लेखक—कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ )

[ गताङ्क पृष्ठ १०२६ से आगे ]

वास्तवमें भगवान्‌का अवतार ही प्रेमानुगा भक्तिके प्रचारके लिये ही होता है। कंसादि दुष्टोंका दलन तो बिना अवतार लिये, उनकी इच्छामात्रसे ही हो सकता था। जिनके भृकुटि-विलाससे विश्वकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है, भला उनको कंसादि तुच्छ कीट-पतङ्गोंके विनाशके लिये निज स्वरूपसे अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता है? हाँ, अवान्तर व्यापार अवतारकालमें दुष्ट-दलनादि भी हो सकता है, परंतु भगवान्‌के अवतारका मुख्य हेतु प्रेमी भक्तोंको अपने प्रेमरसका रसास्वादन कराना तथा भक्तोंके दिव्य प्रेमका स्वयं रस ग्रहण करना ही हो सकता है। इसके सिवा अन्य हेतु तो गौण ही कहे जायँगे। इसीलिये कुन्तीदेवीने कहा—

**तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।**
**भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥**

( श्रीमद्भागवत १।८।२० )

भगवन्! आपने परमहंस अमलात्मा मुनीश्वरोंमें भक्तियोगका विधान करनेके लिये अवतार धारण किया है। भला, हम स्त्रियाँ इस तत्त्वको क्या समझें।

यद्यपि हम शास्त्राज्ञाके अनुसार निर्गुण निराकार सच्चिदानन्द परमात्माकी उपासना तो कर सकते हैं पर हमारा राग तो अपने-जैसे आकार-प्रकार-स्वभाववाले पुरुषमें ही हो सकता है। जिसमें राग होता है, उसीमें प्रेम होता है, यह नियम है। इसलिये भगवान् समस्त भूतोंपर अनुग्रह करके मानुषी तनुका आश्रय लेते हैं और वैसी ही क्रीड़ाएँ करते हैं जिनको सुननेमात्रसे ही मनुष्य भगवत्परायण हो जाता है।

**अनुग्रहाय भूतानां मानुषं तनुमास्थितः।**
**भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥**

( श्रीमद्भागवत १०।३३।३७ )

भगवान् भूत ( प्राणियों ) पर अनुग्रह करनेके लिये मानुष शरीरका आश्रय लेते हैं।

अस्तु, भगवान्‌के अवतार धारण करनेके शास्त्रोंमें जितने हेतु बतलाये गये हैं। यथा—जब धर्मकी ग्लानि तथा अधर्मका उत्थान एवं सत्पुरुषोंको कष्ट देनेवाले आसुरी प्रकृतिके पुरुषोंकी बाढ़ आ जाती है तब भगवान् धर्मसंस्थापन, अधर्मका नाश तथा दुष्टोंके दलनके लिये अवतार धारण करते हैं। इत्यादि सभी शास्त्रवर्णित हेतु भी सत्य हैं, परंतु हृदय तो इन सबकी अपेक्षा कुन्तीके वचनोंपर ही अधिक आकर्षित होता है। अतः भगवान्‌के अवतारका मुख्य हेतु परमहंस, अमलात्मा, आप्तकाम, वीतराग पुरुषोंको रागात्मिका प्रेमाभक्तिका आनन्द प्रदान करनेके लिये ही है। अन्य सब हेतु इसके अङ्गभूत अर्थात् आनुषङ्गिक हैं।

जहाँ योगीश्वरों-मुनीश्वरोंकी मन-वाणीकी भी पहुँच नहीं—उस निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सत्य-ज्ञान-अनन्तस्वरूप भूमा ब्रह्ममें हम-जैसे पामर स्थूलमति पुरुषोंकी तो कल्पनाशक्ति भी कुण्ठित हो जाती है। भला, हम उसका ध्यान, मनन, चिन्तन करें तो कैसे करें? हम आकाशकुसुम, शशशृंग, वन्ध्यापुत्र जिनको कभी न देखा, न सुना—उनकी भी कल्पना तो कर सकते हैं, पर परब्रह्म परमात्माके आकार-प्रकारकी कल्पना भी नहीं कर सकते। करें भी कैसे? जब भगवान्‌का बोध करानेवाला वेद ही उनके आकार-प्रकारका निषेध करता है **'न तस्य प्रतिमास्ति नेति नेति।'** श्रीगोपाङ्गनाओंने उद्धवके मुखसे उस ज्ञानकी चर्चा सुनी जो उसने गोपाङ्गनाओंके समक्ष भगवान्‌के कहे हुए स्वरूपबोधक वचन कहे थे।

**भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्॥**
**यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।**
**तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः॥**

( श्रीमद्भागवत १०।४७।२९ )

'गोपबालाओ! तुमसे मेरा वियोग किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। जैसे स्थूल भूतोंमें सूक्ष्म महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—ओतप्रोत हैं, ऐसे ही मैं तुम्हारे मन, प्राण, शरीर, इन्द्रिय और सत्त्वादि गुणोंमें ओतप्रोत हूँ। तब भला तुम क्यों व्यर्थ ही वियोगानलमें जल रही हो। उद्धवने अपनी ओरसे वेदान्त झाड़ते हुए कहा—

**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।**
**स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥**

( श्वेताश्वतर० ३।१९ )

उस परब्रह्म परमात्माके पैर नहीं, पर वह तेज दौड़नेवाला है। हाथ नहीं, पर पकड़ लेता है ! आँख नहीं, पर देखता है। कान नहीं, पर सब कुछ सुनता है। वह समस्त ज्ञेयका ज्ञाता है, पर उसको कोई नहीं जानता। ऐसा वह श्रेष्ठ महान् पुरुष है।

उद्धवके द्वारा दिये हुए इस ज्ञानोपदेशको सुनकर श्रीगोपाङ्गनाओंने कहा—'उद्धव ! तुम्हारा वह अलख अरूप ब्रह्म तुम्हारे ही पास रहे, वह हमारे किस कामका ? रत्नाकरके शब्दोंमें—

कर बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारी वह
　　पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहे रत्नाकर बदन बिनु कैसे चखि
　　माखन, बजाइ बेनु गोधन गवाइहै॥
देखि सुनि कैसे दृग श्रवननि बिना ही हाय !
　　मेरे ब्रजबासिनकी बिपति पराइहै।
रावरो अरूप कोउ अलख अरूप ब्रह्म
　　उधो ! कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै॥

सत्य ही कहा। भला, अनुपम अलख अरूप ब्रह्मसे हमारा क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?

हमें तो ऐसे परमेश्वरकी जरूरत है, जो हमारे-जैसे डील-डौलका हो, हमारे-जैसे सामर्थ्य और शक्तिवाला हो, न हमसे बहुत बड़ी शक्तिवाला हो और न बहुत कम ही हो। भला, अपनेसे अत्यन्त महान्के साथ या अत्यल्पके साथ किसीकी मैत्री हो सकती है ? मैत्री तो वहाँ ही होती है, जहाँ दोनों मित्रोंके शक्ति-सामर्थ्य-शील-स्वभाव समान हों **'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।'** हमसे मैत्री करनी हो तो आये वह हमारे-जैसा बनकर, जिससे हम अपने हृदयके कपाट खोलकर घुल-मिलकर उससे बात कर सकें, अपना सुख-दुःख सुना सकें, अपने छिद्र उसके सामने निष्कपट भावसे खोलकर रख सकें। हमारे हजार अवगुण देखकर भी जो हमसे घृणा न करे। प्रत्युत्, जो हमारे 'गुन प्रगटे अवगुनहि दुराई' कर सके। हमें ऐसे ही सच्चे मित्रकी आवश्यकता है, जो गाढ़े समयमें, प्रयोजन होनेपर हमारा मित्र होनेपर भी माता, धाता, पितामहका काम कर सके; जो हमारा आश्रय, निवास, शरण और सुहृद् हो; जो सर्वदा हमारे साथ रहे ऐसा सखा हो, जिसके लिये वेदने कहा **'सयुजौ सखायौ'**।

वास्तवमें परमहंस, परम वीतराग, परम प्रेमी, अमलात्मा, आप्तकाम, पूर्णकाम गोपाङ्गनाओं-जैसे परम भागवत भक्तोंकी ऐसी साध पूर्ण करनेके लिये ही तो भगवान् मानुषावतार लेते हैं। अन्य सब हेतु तो सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द परब्रह्मके अवतारके लिये गौण हैं। इस रहस्यका पता शास्त्रोंसे नहीं लग सकता, इसका पता तो कुन्ती-जैसे महाभागवतोंको ही हो सकता है। तभी तो उसने असली बात कह ही तो दी—

**तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।**
**भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥**

आखिर स्त्री-स्वभाव ही तो ठहरा। क्या कोई बात अधिक दिनोंतक वह छिपा सकती थी ? उसकी यह बात रहस्योद्घाटनके कारण शायद भगवान्को अखरी हो, पर उसने भेद खोलकर हमारा तो परम उपकार कर ही दिया। हमें अब अपने उस प्रिय साथी सखाको खोजनेके लिये वेदोंके बीहड़ जंगलमें भटकना नहीं पड़ेगा। 'माँ कुन्ती ! तुम केवल पाण्डवोंकी ही माता नहीं हो, वास्तवमें तुम हम सबकी माता हो। तुमने ही तो हमसे बिछुड़े हुए हमारे प्यारे सखाका पता बताया है।' अतएव श्रीराम-श्रीकृष्णके अवतारका प्रयोजन वस्तुतः भक्तियोगके विधानके लिये ही है !

इसीलिये पूर्ण ब्रह्मको मनुष्योंके उद्धारके लिये मानुष बनना पड़ा। मानुष अवतारोंमें मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामके अवतारका साक्षात् प्रयोजन था—मनुष्योंको मर्यादा-पालनकी शिक्षा देना—**'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभो'** मर्यादा-पुरुषोत्तमकी उपासना भी मर्यादामार्गके पालनके साथ ही की जाती है। अतः भगवान् श्रीरामकी भक्तिमें वैधी भक्तिकी ही प्रधानता है। इस भक्तिमें शान्त, दास्य, वात्सल्य-भावोंकी ही पुष्टि अधिकतर होती है, सख्यभाव भी कुछ अंशोंमें परिस्फुट होता है। परंतु जिस महाभावमें शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य आदि सभी भाव एक साथ प्रपानक-रसन्यायसे मिले रहते हैं, जो सब भावोंका राजा है—उस मधुरभाव या कान्ता-भावका उदय दुर्लभ ही है।

भारतवर्षमें जो वैष्णव-भक्तिमार्ग चला आ रहा है, उसमें भावोंकी अत्यन्त विशद और मार्मिक व्यञ्जना श्रीरामभक्ति और श्रीकृष्णभक्तिके क्षेत्रोंमें ही हुई है।

पर इन दोनों क्षेत्रोंकी भक्तिके स्वरूपमें भेद स्पष्ट दिखलायी देता है। रामभक्तिके क्षेत्रमें भगवान् और जगत्की सम्बन्ध-भावना बराबर ऊपर रही, इससे वहाँ शील, शक्ति और सौन्दर्य—इन तीनों विभूतियोंसे सम्बन्धित भगवान्का लोक-रक्षक और लोकरञ्जक रूप हमारे सामने रहा।

भगवान् श्रीरामकी उपासनामें प्रायः दास्य-भावकी ही परितुष्टि हो सकती है। अतः वहाँ सौन्दर्यकी अपेक्षा शील और शक्तिमें ही हमारा ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट होता है। राममें हमने अपना इष्ट तो पा लिया, पर राम केवल हमारे प्रेमके ही पात्र नहीं हैं, उनकी शक्तिके सामने हम सिर झुकाते हैं। राम हमसे सटे हुए भी हमसे इतने ऊँचे हैं कि हमारा मस्तक उनके सामने श्रद्धा और भक्तिसे बरबस झुक जाता है, केवल प्यार ही करें, ऐसा नहीं होता।

रामका 'रामत्व' रावणके 'रावणत्व' के विरोधमें; शबरी, अहल्या, गृध्रराज जटायुके तारनेमें; सुग्रीव, विभीषण, हनुमान् आदिकी स्नेह-मैत्रीमें तथा कैकेयीके प्रति श्रद्धा और स्नेह-भावमें अधिक प्रस्फुटित हुआ है।

यद्यपि जनकपुरकी फुलवारीमें रामके रूप-सौन्दर्यकी बड़ी मनोहर झाँकी मिलती है—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥
केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन अपान॥
धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥

इस मधुर प्रेम और श्रीरामके अलौकिक सौन्दर्यपर मुग्ध सीताके हृदयपर उस समय कितना झटका लगा होगा, जब सहसा एक सखीने कहा—बहुत विलम्ब हो रहा है, माताजी नाराज होंगी।

पुनि आउब एहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहसी एक आली॥
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलंबु मातु भय मानी॥

रूपरसके प्यासे मानव-हृदयकी रस-निष्पत्तिमें कितना बड़ा झटका इन दृश्योंमें लगता है। हम लुभाये-से रामकी इस रूप-माधुरीपर टकटकी लगाये ही खड़े रह जाते हैं। नेत्रोंके झरोखोंसे रामरूपको भलीभाँति हृदयमें ले जानेके पहले ही राम हमारी आँखोंसे ओझल हो जाते हैं। रामदर्शनकी प्यासी आँखें तड़पती-सी ही रह जाती हैं। अतः लोकमर्यादा, संयम, लोकरञ्जन और परित्राणकी भावना ही हमें राममें प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है।

इसी प्रकार तुलसीके वात्सल्यभावमें भी श्रद्धाका पुट ही अधिक है। रामके बालरूपका वर्णन करते हुए भी तुलसी-दासजीने रामको जगत्के माता-पिताके रूपमें ही चित्रित किया है।

एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुरबासिन्ह सुखदाता॥

निदान, रामभक्तिमें दास्यभावका ही प्राचुर्य है। यद्यपि जैसा प्रेम हम रामसे करते हैं, वैसा ही प्रेम राम भी हमसे करते हैं। इसमें तनिक भी संशय नहीं; तथापि भगवान् श्रीराममें हमें जो शील और शक्ति दिखायी देती है, उसके कारण श्रीरामकी महत्ता हमारे हृदयमें अङ्कित है। अतः रामका चिन्तन करते ही जहाँ हमारा हृदय उनके सौन्दर्यका पान करके रसविभोर हो जाता है, वहीं हमारा मस्तक उनके शील और शक्तिका स्मरण करके श्रद्धासे अवनत हो जाता है। सार यह कि राममें सौन्दर्य, शील, शक्ति—तीनों गुणोंके रहते हुए भी उनमें शील और शक्तिकी ही प्रधानता है। अतः वे हमारे उपास्य हैं, पर सखा और कान्तके रूपमें नहीं।

अतएव लोकमर्यादा, संयम एवं परित्राणकी भावना ही राममें पूर्णतः प्रतिष्ठित हुई है। पावन ही मङ्गल है, श्रेय ही प्रेय है, कर्तव्य ही प्रेम है। यही रामके लोकोत्तर चरित्रकी उद्भावना करनेवाले भक्तोंका आदर्श है। हम रामके सेवक तो हो जाते हैं, परंतु स्वामीका चरित्र इतना उन्नत, इतना पावन एवं इतना उच्च है कि सखा बननेके लिये हमारा हृदय साहस ही नहीं कर सकता और जीवनका एक बड़ा अभाव-अभाव ही रह जाता है। एवं केवल **'दासानुदासोऽस्म्यहम्'** की भावनातक ही हमारा हृदय उठ पाता है। इसके आगेकी हृदयकी साध अपूर्ण और अधूरी ही रह जाती है। भगवान् रामने अग्निकी साक्षीसे सुग्रीवको सखा बनाया, पर क्या सुग्रीवका साहस दासत्वका अतिक्रम कर सका? वह तो अपनेको सदा दास ही समझता रहा।

## दास्यमें एक दूरत्व है

दास्यभावमें दूरत्वका जो भाव हमारे हृदयमें घर किये हुए है, उससे हमें संतोष नहीं होता। हम अपने प्रियतम परमात्मासे और अधिक सम्पर्कमें आना चाहते हैं, अतः उस भावको कुछ प्रवाह मिला अनिवार्य था। सख्य, वात्सल्य

एवं माधुर्य भावमें क्रमशः दूरत्वका लोप हो जाता है । यहाँतक कि परम महाभावमें तो दोका एक तथा एकहीका दो स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है ।

श्रीरामकी भक्तिमें जो भाव पूर्ण नहीं हो सकते थे, जिन भावोंके लिये हमारा हृदय तरसता रहता था, श्रीकृष्णने उनकी पूर्ति कर दी । हृदयकी सब प्रकारकी वृत्तियोंको रमण करनेका पूरा-पूरा अवकाश एवं क्षेत्र श्रीकृष्णमें मिला । तुष्टि एवं अभिलाषाके सभी उपादान श्रीकृष्णमें विद्यमान हैं । शील और शक्तिकी पराकाष्ठा होते हुए भी हमारा ध्यान श्रीकृष्णके सौन्दर्यपर ही विशेषतया आकर्षित हुआ ।

यशोदाके आँगनमें किलकारियाँ छोड़ते हुए 'घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए' रूपपर सहज ही हमारा हृदय निछावर हो जाता है । अवस्था बढ़ती है और अवस्थाके साथ नटखटी भी बढ़ती है । गोपवृन्दोंको छेड़ते, गोचारणमें सजल श्यामल वारिदोंके पीछे दौड़ते, साथके बालकोंसे दाव

राममें माधुर्य है । श्रीरामके हाथमें धनुष है, जो उनकी कर्तव्यशीलता, दुष्टदलनताका परिचायक है । श्रीराममें अगाध गाम्भीर्य है । असुरोंके भीषण अत्याचारसे पीड़ित ऋषि-मुनियोंको अभय करनेवाला दानव-दर्पहारी शौर्य है । असाधारण प्रतिभा है । सभी क्षेत्रोंमें विलक्षण मर्यादा है । आदर्श विनय-विनम्रता है ।

राममें योगीजन ही अपने योगबलसे रमण कर सकते हैं **'रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः ।'**

श्रीराम मर्यादापालनके लिये वशिष्ठके शिष्य बनकर उनसे अपने मोक्षका उपदेश ग्रहण करते हैं ।

अस्तु, प्रेमका प्रारम्भ, जिसे कवियोंने अनुरागकी संज्ञा दी है, विशेषतः रूपके ही आकर्षणसे होता है । अत्यन्त सुन्दर वस्तुपर हृदय बरबस उलझ जाता है ।

आँखोंकी खिड़कियोंसे हृदयमें प्रवेश करके रूपका जादू एक अतर्कित हलचल मचा देता है । ऐसी विलक्षण आनन्दानुभूतिका वर्णन भी व्यासके बिना कौन कवि कर सकता है ?

**गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं**
**यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।**
**दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-**
**स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥**

(श्रीमद्भा० १० । ८२ । ४०)

लेते-देते, वंशीकी तानपर स्वयं नाचते तथा औरोंको नचाते हुए श्रीकृष्णका वह **'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'** स्व-पर-मोहक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो विश्वमें अन्यत्र असम्भव है ।

श्रीवल्लभाचार्य, मध्व, निम्बार्क तथा श्रीचैतन्यदेवको इसी श्यामल प्रौढ़ रूप-माधुरीने ही तो आकृष्ट किया, जिसकी प्रेमस्रोतस्विनीको जयदेव और विद्यापतिने गीत गा-गाकर परमभावकी मधुर रतिको अङ्कित करके उद्वेलित कर दिया ।

परमभावकी इस परम्परामें श्रीकृष्णकी प्रेममयी मूर्तिको लेकर ही प्रेमतत्त्वकी बड़े विस्तारसे अभिव्यञ्जना हुई है और इसी कारण भगवान् श्रीकृष्णका यह विश्वविमोहन रूप मानव-हृदयको अनादिकालसे आकृष्ट करता आया है । श्रीकृष्णके रूपमें जो लावण्य, जो मोहकता और जो आकर्षण है, वह अन्यत्र कहीं भी किसी भी रूपमें नहीं मिलता ।

श्रीकृष्णमें लावण्य है । श्रीकृष्णके हाथमें मुरली है, जो उनकी अगाध मोहकता, प्रेमोजस्विताके साथ अमृतनिस्पन्दिनी स्वरलहरीसे जगत्के मानव, पशु, पक्षी, लता, विटप आदि स्थावर-जङ्गम जीवोंको आकर्षण करती हुई कृष्णनामको चरितार्थ करती है । **'कर्षति आकर्षति मायामूढान् जीवान् स्वाभिमुखी करोतीति कृष्णः ॥'**

परंतु श्रीकृष्ण तो योगी और भोगी दोनोंको ही आनन्द-क्रीडामें मग्न कर देते हैं ।

श्रीकृष्ण डंकेकी चोट अर्जुनसे कहते हैं—'सब धर्म-कर्मोंको छोड़कर तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सब पापोंसे—जन्म-मृत्युसे छुड़ा दूँगा । तू शोक मत कर ।'

चिरकालसे जिस अभीष्ट देवकी दर्शनाभिलाषा थी, आज गोपियोंके समक्ष वही श्रीकृष्ण आ गये, परंतु दर्शनकी प्यासी इन आँखोंको पलक बाधा पहुँचा रही थी । गोपियोंको यह बहुत बुरा लगा । वे अपने प्रियतमके रूपदर्शनमें पलकभरका बिछोह कैसे सहन कर सकती थीं, पलक बनानेवाले ब्रह्माको कोसने लगीं । बाहर प्रियको निहारनेमें ये पलकें बाधा डाले बिना नहीं रहेंगी, अतः उन्होंने अपने प्राणनाथको आँखोंके झरोखोंसे हृदयमें प्रविष्ट करा लिया ।

अब तो हृदयकी एकान्त गुहामें प्रियतमका इतना प्रगाढ़ आलिङ्गन किया कि अपनी सुध-बुध भूलकर वे स्वयं ही कृष्णमयी बन गयीं । गोपियोंका यह महाभावका

आनन्द सदा-सर्वदा सेवामें समुपस्थित रहनेवाली पटरानीका अभिमान रखनेवाली श्रीरुक्मिणी और सौभाग्यदर्पिता सत्यभामाको तो कभी प्राप्त ही नहीं हुआ। बड़े-बड़े युक्त योगियोंके लिये भी गोपियोंके इस महाभावका आनन्द दुर्लभ ही रहा। इस आन्तर मिलनमें गोपियाँ सहज ही तद्भाव ( भगवद्भाव ) को प्राप्त हो गयीं।

परम भावकी इस परम्परामें श्रीकृष्णकी प्रेममयी सौन्दर्य-सुभग अति ललित मधुर मूर्तिको लेकर ही प्रेमतत्त्वकी अधिक विस्तारसे अभिव्यक्ति हुई है। इसी कारण श्रीकृष्णका वह अतिमोहक रूप मानव-हृदयको अनायास ही आकर्षित करता आ रहा है।

भक्तिके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि पाँचों भावोंकी रतिकी पूर्णता श्रीकृष्णमें ही होती है। श्रीराममें हमारा भाव दास्यसे होते हुए सख्यतक कठिनाईसे पहुँचता है। वहाँ वात्सल्य है; पर उस वात्सल्यमें भी श्रद्धाका ही पुट है।

श्रीकृष्णमें हम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यसे होते हुए मधुरभाव तक पहुँच जाते हैं। मधुरभावको ही कान्ता-भाव कहते हैं। मधुरभावमें उनको अपना प्राणवल्लभ प्रियतम मानकर उनकी अनन्य भुवनमोहिनी मूर्तिपर प्रियतमा-प्रेयसीके भावसे अपनेको सर्वात्मना समर्पित कर देते हैं। बस, इसी भावको गोपीभाव कहते हैं। इसमें पूर्ण आनन्ददायक आकर्षण-सत्तायुक्त सत्, चित्, आनन्दघन तत्त्वका नाम ही श्रीकृष्ण है और इस परम तत्त्वकी ओर आकृष्ट चित्कणस्वरूप जीवोंकी जो स्वभावतः आकर्षण-क्रिया है, उसीका नाम उत्तम भक्ति है।

**अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।**
**आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥**

( भक्तिरसामृतसिन्धु १। ११ )

श्रीश्यामसुन्दरके मिलनकी अभिलाषाके अतिरिक्त संसारकी सम्पूर्ण वासनाओंसे शून्य, ज्ञान और कर्मके संस्कारोंके आवरणसे रहित, सब प्रकारकी अनुकूलताके साथ श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन ( अनुशीलन ) ही उत्तम भक्ति है।

## ज्ञानमें बुद्धितत्त्वकी प्रधानता

हम पहले यह स्पष्ट कर आये हैं कि भगवान्को प्राप्त करनेके हमारे पास दो ही साधन हैं—बुद्धि और मन। बुद्धि ( मस्तिष्क ) पुरुष-तत्त्व है, यह विवेचनाकी कर्कश कसौटीपर कसे बिना किसी वस्तुका सत्यत्व स्वीकार नहीं करती। बुद्धिका अधिष्ठाता देव सूर्य है, जो अपनी प्रखर किरणोंके प्रकाशसे ही परम वस्तुका प्रकाश करता है। अतः इसके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही परम श्रेयस्कर साधन हैं।

## भक्तिमें मन-तत्त्वकी प्रधानता

मन—( हृदय ) नारी है, भक्तिमें इसीकी प्रधानता है। नारी-तत्त्व श्रद्धाप्रधान है। सौन्दर्यपर आसक्त होना इसका असाधारण स्वभाव है। यह रूपमाधुरीका ही लोभी है। रूपके समान इसे किसी गुण-अवगुणकी चाह नहीं, श्रीकृष्णमें रूपकी पराकाष्ठा है; अतः मनरूप नारीतत्त्व उसपर अनायास आसक्त हो जाता है।

मनका अधिष्ठाता चन्द्रमा है, जो सोमरस-प्रधान है। मनको एक ऐसा पात्र समझ लेना चाहिये, जिसमें स्नेहन-गुणात्मक तरलभावापन्न सोमरस ( श्रद्धातत्त्व ) उसी प्रकार छलकता रहता है, जैसे जलपूर्ण पात्रमें जल। सार यह कि हृदयरूप पात्रसे श्रद्धारस ऊपर और नीचे छलकता रहता है। इसकी पाँच धाराएँ हो जाती हैं—

( १ ) **शान्तभाव**—जब यह सोमरस ऊपरकी ओर छलकता है तो अपनेसे बड़े माता-पिता, गुरुजन, महापुरुषोंकी ओर इसकी धारा जाती है, तब इसका नाम श्रद्धा हो जाता है। तरल पदार्थकी ऊर्ध्वगति बड़ी कठिनाईसे होती है। अतः अपनेसे बड़ोंपर श्रद्धा किसी महाभागकी ही होती है—इस श्रद्धातत्त्वकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। जिसका श्रद्धातत्त्व अभिभूत हो जाता है या सूख जाता है, वह श्रद्धाविहीन मानव श्मशानके सूखे वृक्षकी भाँति भयावह हो जाता है। अतः वेद कहता है **'श्रद्धत्स्व सौम्य।' अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।** ( गीता )

यहाँ वह श्रद्धायुक्त मानव माता-पिता, गुरु आदिकी रुचि और आज्ञानुसार मन-इन्द्रियोंका संयम करके उनको सुख पहुँचाता रहता है तथा भोग-वैराग्यपूर्वक सर्वलोकमहेश्वर सर्वसुहृद् भगवान्की कर्म-भक्ति आदिके द्वारा विधिपूर्वक आराधना करता रहता है। यही शान्तभाव है।

( २ ) इसकी दूसरी धारा है—**दास्यभाव**। इसमें भक्त भगवान्को अपना एकमात्र स्वामी ( मालिक ) और अपनेको सेवक मानता है और इस दासतामें ही वह सदा संलग्न रहना चाहता है। इस दासतामें—सेवा-संलग्नतामें उसे ब्रह्मानन्दसे भी कहीं बढ़कर परमानन्दकी उपलब्धि होती है। इसीसे भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि मेरे जन ( दास ) मेरी

सेवाको छोड़कर प्रदान किये जानेपर भी पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ स्वीकार नहीं करते—

**सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।**
**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥**

( श्रीमद्भागवत )

इस दास्यभावमें गाढ़ भक्ति है—समर्पण है; परंतु दूरत्व है। सेवक ( दास ), सेव्य ( मालिक ) से नीचे बैठता है, सम्मति-परामर्श न देकर प्रार्थना करता है, सब प्रकारसे स्वामीके प्रति आदर, मान, सत्कारका बर्ताव करके अपनी दासताको सुरक्षित रखता है। स्वामीकी आज्ञाका ही नहीं, उसकी रुचिका पालन करता है। किसी भी बातमें, कभी भी स्वामीके साथ बराबरीकी कल्पना भी नहीं करता। पूर्ण सेवा करके भी सच्चा दास उसका कुछ भी बदला नहीं चाहता। वह यदि कुछ चाहता है तो केवल यही कि उसको स्वामीकी सेवाका उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सुअवसर मिलता रहे।

( ३ ) इसकी तीसरी धारा है—**सख्य**। जहाँ ऊँच-नीचका भाव नहीं। दो समान गुण-स्वभाव वयस्कवाले पुरुषोंका या स्त्री-पुरुषका निश्छल, निष्कपट निःस्वार्थ स्वाभाविक आकर्षण और सहज स्नेह हो—उस भावका नाम 'सख्य' है। इस भावसे भावित व्यक्तियोंका परस्परमें कोई दुराव-छिपाव नहीं होता। जहाँ एक दूसरेके समक्ष अपने हृदयकी गूढ़-से-गूढ़ वेदना, दुर्बलता या त्रुटियोंको प्रकाशित करके अपने हृदयको हलका कर लिया जाता है तथा जिस बातको किसीके सामने नहीं कह सकते, ऐसी गूढ़रहस्यकी बात भी निस्संकोच प्रकट की जाती है, वहीं सच्ची मैत्री होती है। यह मैत्री बड़ेकी छोटेसे, गरीबकी धनवान्से, राजाकी रङ्कसे, विद्वान्की मूर्खसे, शूरवीरकी निर्बलसे हो नहीं सकती। यदि कहीं दिखायी देती है तो उसमें स्वार्थमयी प्रवञ्चना ही है, मैत्री नहीं। **'समानशील-व्यसनेषु सख्यम्'** का ही सिद्धान्त अटल है। जहाँ पूर्ण विश्वास है, वहीं सच्ची मैत्री अर्थात् सख्य है।

इसमें दास्यकी भाँति मान-सम्भ्रमका भाव नहीं है। बराबरी है। इस भावमें समान आसनपर बैठा जाता है, बिना पूछे ही सम्मति-परामर्श दिया जाता है और बर्ताव भी समान किया जाता है। व्रजके सरलस्वभाव सखा तो प्रणय-कोपमें यहाँतक कह बैठते हैं—

'ना हम चाकर नंद बबाके ना तुम हमरे नाथ गुसैयाँ।'

'न तो हम तुम्हारे बाप ( नन्दबाबा ) के नौकर हैं और न तो तुम हमारे नाथ स्वामी ( मालिक ) ही हो—इसमें दास्य-भावकी अपेक्षा अधिक समीपता है।

( ४ ) सोमरसकी चौथी धारा है—**वात्सल्यभाव**—माता-पिताका पुत्रपर, गुरुका शिष्यपर, बड़ोंका छोटोंपर जो स्नेह-रस प्रवाह स्वभावतः प्रवाहित होता है, उसे वात्सल्य कहते हैं। यह सहज है; क्योंकि सोमरसका स्वभाव तरल होनेसे नीचेकी ओर उसका प्रवाह स्वभावतः होता रहता है। पुत्र माता-पितापर श्रद्धा न करे तो भी माता-पिताका स्नेह ( वात्सल्य ) पुत्रकी ओर प्रवाहित होता ही है, अतएव यह उक्ति प्रसिद्ध है—

**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।**

माता-पिता संतानके स्नेहवश उसके कल्याणके लिये उसे डाँटते-डपटते हैं, उसमें अपनेसे हीनताका अनुभव करते हैं, उसकी सब प्रकारसे देख-रेख करते हैं, उसके लिये देवता मनाते हैं और समयपर उसका शासन भी करते हैं। यशोदा मैयाने श्रीश्यामसुन्दरको ऊखलसे बाँध दिया था। अतः इसमें सख्यभावकी अपेक्षा अधिक निस्संकोच सामीप्य है।

( ५ ) पाँचवीं धारा है—**मधुररस-( रति )**। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—इन चारों भावोंका जिस केन्द्रबिन्दुमें एक साथ सम्मिश्रण या समन्वय हो जाता है, उसीको ही रति या मधुरभाव या महाभाव कहा जाता है। इस रतिके दो ही क्षेत्र हैं—दाम्पत्यरति और आत्मरति। रासपञ्चाध्यायीमें इस आत्मरतिका ही विशेष विशद वर्णन है। छान्दोग्य उपनिषद्में आत्मरतिका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है—

**आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।**

( ७ । २५ । २ )

यह सब कुछ जो देखा, सुना, सूँघा, छुआ और चक्खा जाता है, सो सब आत्मा ही है। इस प्रकार जो देखता और मानता है तथा अच्छी प्रकार जानता है, वह आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द है, अर्थात् सर्वत्र सबमें अपने आत्माको देखनेवालेकी रति, क्रीडा, मिथुनीभाव तथा आनन्द अपने आत्माके साथ ही होते हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णकी रासक्रीडाका वर्णन करते हुए महर्षि व्यासने लिखा है—

**रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।**

जैसे बच्चा अपने प्रतिबिम्ब ( परछाँई ) से क्रीडा करता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने अपनी स्वरूपभूता प्रतिबिम्बस्थानीया व्रजाङ्गनाओंसे क्रीडा की ।

## रतिका स्वरूप

**स्नेहस्यैव विकारः प्रिययोरत्यन्तभावनादनिशम् ।**
**विरहासहिष्णुतात्मा प्रीतिविशेषो रतिर्नाम ॥**

( भक्तिरसायन २ । ५९ )

'दोनों प्रेमियोंका अर्थात् प्रेमाधार और प्रेमपात्रका या यों कहिये भक्त और भगवान्का परस्परमें निरन्तर भावनापूर्वक एक दूसरेका चिन्तन करनारूप प्रीतिविशेषका नाम ही रति है ।' इस रतिके उदय होनेपर भक्त भगवान्के विस्मरणरूप विरहको और भगवान् भक्तके विस्मरणको सहन नहीं कर सकते । भक्तके हृदयके रज और तम अत्यन्त अभिभूत हो जाते हैं और सत्त्वका पूर्ण विकास हो जाता है । तभी भगवद्विषयिणी वृत्ति एकनिष्ठ होती है, इस प्रकार जो मनोवृत्ति गङ्गाकी धाराकी तरह अविच्छिन्नरूपमें निरन्तर भगवान्की ओर प्रवाहित होती रहती है, उस प्रीति-विषययुक्त मनोवृत्तिको जिस अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है, उस अनुभूतिका नाम ही रति है ।

## रतिके दो भेद हैं

सम्भोगरति और विप्रयोगरति । जिस रतिमें भगवान्के सांनिध्यकी अनुभूति होती रहती है, उसे सम्भोगरति कहते हैं और जिस रतिमें मैं भगवान्से दूर हूँ, भगवान् मुझे छोड़कर चले गये—ऐसी भावना बनी रहती है तथा इसके कारण ही जो वियोगजन्य दुःखकी तीव्र वेदनाकी अनुभूति होती है, उस रतिको 'विप्रयोग' विप्रलम्भ या वियोग रति कहते हैं । यहाँ भगवान्का सांनिध्य शारीरिक संयोगरूप नहीं है और न शारीरिक वियोग असांनिध्य है; किंतु दोनों प्रकारकी रतियोंमें भक्तकी भावनाविशेष ही हेतु है । रति उभयत्र समान भावसे स्थायी रहती है; परंतु संयोगकी अपेक्षा वियोगमें रतिकी तीव्रता अधिक है ।

भगवद्विषयक काम और लौकिक काममें यह भेद है कि भौतिक जड काममें युवक और युवतीके शारीरिक संनिधानको सम्भोग शृङ्गार कहते हैं और शारीरिक असंनिधान ( दूर-स्थिति ) को विप्रलम्भ, वियोग-शृङ्गार कहते हैं; क्योंकि वहाँ जड-आनन्द है, जो जड शरीरोंके संस्पर्शसे ही उत्पन्न होता है । अतः इसका नाम 'काम' है । इसमें स्वसुख-वाञ्छाकी प्रधानता है ।

भगवद्विषयक कामका नाम 'प्रेम' है, प्रेममें स्वसुख-वासनाका त्याग करके प्रियतमको ही सुख पहुँचानेकी भावना-की ही प्रधानता रहती है । अतः प्रेम शुद्ध, उज्ज्वल और सत्त्वप्रधान है । काम अशुद्ध, मलिन और तमःप्रधान है । यही काम और प्रेमका भेद है ।

भगवद्विषयक प्रेममें वास्तवमें विप्रलम्भका कोई स्थान ही नहीं होता; क्योंकि भगवान्से कभी किसीका वियोग हो ही नहीं सकता । जिस प्रकार सूक्ष्म महाभूतोंसे स्थूल महाभूत विरहित होकर नहीं रह सकते, वैसे ही भगवान्के बिना कोई भी स्थिर-चर प्राणी नहीं रह सकता । अतः वास्तवमें भगवान्के असंनिधानप्रयुक्त विप्रलम्भका तो कोई आधार ही नहीं ।

इसके अतिरिक्त भगवान्की सशरीर उपस्थिति-( संनिधि) में, मानका उदय हो जानेपर विप्रलम्भ-शृङ्गार माना गया है तथा प्रेमवैचित्त्यमें भी विप्रलम्भ-शृङ्गार ही है । मान-विप्रलम्भके उदाहरण श्रीराधाजीके चरित्रमें स्थान-स्थानपर मिलते हैं । प्रेमवैचित्त्य—भ्रमरगीत और महिषीचरित्रमें श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट मिलते हैं । अतः भगवद्विषयक विप्रलम्भ-शृङ्गारमें शरीरसंनिधिकी प्रधानता नहीं । अपितु भक्तकी भावनाकी ही प्रधानता है । अतएव यह अभियुक्तोक्ति है ।

**रतिस्थायिकत्वे सति संयोगभागस्मि, इत्यनुभवसाक्षिकचित्तवृत्तिविशेषशालितायां सम्भोगः । रतिस्थायिकत्वे सति न संयोगभागस्मीत्यनुभवसाक्षिक-चित्तवृत्तिविशेषशालितायां विप्रलम्भः, इति विवेचनीयं रसज्ञैः॥**

( भक्तिरसायन २ । ३ की प्रेमपपादीका )

इन दोनों शृङ्गारोंमें अर्थात् सम्भोग और विप्रलम्भमें रति ( प्रीति ) का स्थायीभाव तो बना ही रहता है । पर भक्तकी मनोवृत्ति यदि यह अनुभव करे कि मैं भगवान्के संयोगमें हूँ, भगवान् मेरे समीप उपस्थित हैं, मैं उनके रूपमाधुर्यका साक्षात् अनुभव और उपभोग कर रहा हूँ तब सम्भोग-शृङ्गार होता है ।

और जब भक्त यह अनुभव करता है कि मैं भगवान्से वियुक्त हूँ । भगवान् मुझे त्यागकर कहीं दूर चले गये हैं, अब वे मुझे मिलेंगे या नहीं—इस प्रकार भगवान्के विरह-की तड़पनमें वह अधीर हो उठता है, तो इस अवस्थाका नाम

ही यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार है। कवियोंने इसे इस भाषामें कहा है—

'मिले ही रहें मानों कबहुँ मिले ना'

सर्वदा मिले हुए भी अमिलनकी अनुभूति करना और मिलनके लिये व्याकुल रहना ही भक्तिशास्त्रमें विप्रलम्भ-शृङ्गार माना गया है।

यह ध्यान रहे कि वियोगमें संयोगकी अपेक्षा रति तीव्रतर होती है; क्योंकि संयोगमें भगवत्प्राप्तिजन्य मनोवृत्ति शान्त और संतुष्ट हो जाती है; परंतु वियोगमें तो प्रतिक्षण प्रेमीकी मनोवृत्ति भगवन्मय ही रहती है। संयोगमें बाह्य भोग है, वियोगमें आभ्यन्तर संतुष्टि है।

संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥

श्रीमद्भागवतमें सम्प्रयोगकी अपेक्षा विप्रयोग रतिकी ही प्रधानता है। कैशोरावस्थामें ही भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं और मथुरासे द्वारका। फिर तो सौ वर्ष बाद ही प्रभासक्षेत्रमें गोपियोंसे उनका मिलन होता है—वे मिलते हैं। भगवद्वियोगमें घुल-घुलकर मरना ही तो गोपीजीवनका सार है। गोपियोंने इसी प्रेमाभक्तिका प्रचार अपने जीवनचरित्रोंके द्वारा किया है।

## विरहकी तीव्र वेदना ही (रति) की कसौटी है

विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः।
मृदुमध्यातिमात्रत्वाद्विशेषोऽत्रापि वीक्ष्यते॥
वैकुण्ठे द्वारकायां च श्रीमद्वृन्दावने तथा।
मृदुतीव्रा मध्यतीव्रा तीव्रतीव्रा च सा क्रमात्॥

(भक्तिरसायन २।६१-६२)

भगवान्‌के विरहमें जिस प्रेमी भक्तको जितना महान् दुःख होता है, उसकी रति भी उतनी ही तीव्र मानी जाती है; क्योंकि विरहका संताप जिसके हृदयमें जितना मृदु, मध्य, तीव्र होता है, उस संतापके अनुसार ही चित्तद्रुति होती है। वैकुण्ठवासी भक्तोंका विरहसंताप मृदुतीव्र है, अतः उनकी रति भी मृदुतीव्र है। द्वारकावासी भक्त एवं महिषीवृन्दका भगवद्विरहज संताप उनकी अपेक्षा अधिक होनेसे मध्यतीव्र था, अतः उनकी रति भी मध्यतीव्र ही थी; परंतु श्रीगोपीजनोंके संतापका तो कोई पार ही नहीं था। अतः उनका संताप भी तीव्रतर था। इसीलिये उनकी रति भी तीव्रातितीव्र थी।

भगवद्विरहजन्य संतापसे उत्पन्न रतिकी तीव्रता परमाह्लादमयी होती है। यह नियम है कि संसारमें किसी भी अभीष्ट वस्तुका निरन्तर वियोग महान्-से-महान् कष्ट देनेवाला होता है; परंतु भगवान्‌के विरहमें यह विशेषता होती है कि वह कष्ट भी महान् सुखदायक होता है।

रतिरनिशनिसर्गोष्णापि प्रबलतरानन्दसान्द्ररूपैव।
ऊष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १।३।६१)

यद्यपि भगवद्विषयक रति स्वभावसे गरम होती है, अतः वह संतापदायिनी भी है। विरहकी ज्वालाओंका जाल इसमें निरन्तर निकलता रहता है; पर उसकी ज्वाला इतनी शीतल और सुहावनी होती है कि जिसके सामने करोड़ों चन्द्रमाओंकी सुधावर्षी ज्योत्स्नाकी शीतलता भी फीकी पड़ जाती है। (शेष आगे)

## मेरे प्रभुका स्नेह

मैं कैसा भी हूँ, पर मेरे प्रभु रहते नित मेरे पास।
हैं अनन्त वे प्रेममूर्ति प्रभु, हैं अनन्त वे स्नेह-निवास॥
मुझपर स्वाभाविक ही उनका है अनन्त अतिशय अपनत्व।
अविरत मुझे देखते रहते, रखते सहज पवित्र ममत्व॥
काम-क्रोध-लोभ-तम-चिन्ता-मोह-मान-मद-शोक-विषाद।
सभी समूल मिटे, जब प्रभुका लगा बरसने कृपा-प्रसाद॥
मैं हूँ नित निर्भय उनका कर-कंज देख सिरपर पावन।
मुझपर सदा स्नेह बरसाते रहते वे प्रभु मनभावन॥

# वे सब हमें छोड़ जाते हैं, पर यह हमको नहीं छोड़ता !

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शन-केसरी, साहित्यरत्न )

हम असंख्य व्यक्तियोंसे मित्रता करते हैं, पर एक समय वह आता है जब वे हमें छोड़ जाते हैं। हम अकेले रह जाते हैं। बिल्कुल अकेले !

हम अनेक मकान, जमीन, जायदाद, आराम और सुख-सुविधाकी असंख्य वस्तुएँ संग्रह करते हैं। बड़ी सावधानीसे उन्हें सहेजते हैं, टूटनेपर दुरुस्त कराते हैं; किंतु वे हमें छोड़ देती हैं। हमसे उनका कोई निकट सम्पर्क नहीं रह पाता।

हमारे बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, सगे-सम्बन्धी, पद-अधिकार सार्वजनिक सम्मान, ऊँचे ओहदे तथा अधिकार—सब हमें अकेला छोड़ देते हैं। कोई भी सदा-सर्वदा हमारा साथ नहीं देता। हमेशा हमारे साथ नहीं रहता। हमारा अपना हितैषी और परम सुहृद् इनमें कोई नहीं है। सभी थोड़ी देरके साथी हैं, जैसे मार्गके मुसाफिर !

किंतु एक ऐसी चीज है, जो सदा-सर्वदा जन्मसे—उसके भी पहलेसे हमारे साथ रहती है और मृत्युके बाद भी हमारे साथ जाती है।

आप पूछते हैं, वह क्या है ? हम उसे लेना चाहते हैं, पहचानना चाहते हैं, सदाके लिये अपनाना चाहते हैं। उस मित्र हितैषी सहायकका नाम बताइये ?

उत्तर व्यासजीके शब्दोंमें सुनिये—

**एकः प्रसूयते विप्रा एक एव हि नश्यति।**
**एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम्॥**
**असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः।**
**ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च॥**
**मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।**
**मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः॥**
**तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति।**
**तस्माद्धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः॥**

( ब्रह्मपुराण २१७। ४–७ )

याद रखिये, मनुष्य अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुर्गम कठिनाइयोंको पार करता है और अन्तमें ( अपने दुर्गुणों और पापोंके कारण ) दुर्गतिको प्राप्त होता है।

पिता मरनेवालेका साथ नहीं दे सकता, माता उसके साथ नहीं जा सकती, भाई कुछ सहायता नहीं कर सकते, पुत्र काम नहीं आ सकता, गुरु भी दूर हट जाता है। जाति-बिरादरीवाले मरघटतक पहुँचाकर लौट आते हैं। सम्बन्धी और मित्रवर्ग इनमेंसे कोई भी मरनेवालेका साथ नहीं दे सकते।

घरके लोग मृत व्यक्तिके शरीरको लकड़ी और मिट्टीके ढेलेकी तरह त्यागकर अलग खड़े हो जाते हैं।

वे घड़ी भर रोकर रह जाते हैं। चिताको जलता छोड़ प्राणीसे मुँह मोड़कर चले जाते हैं। वे सब उसे छोड़ जाते हैं—

पर 'धर्म' उसको नहीं छोड़ता।

धर्म अकेला ही मनुष्यके साथ जाता है। वह मरनेपर भी युग-युगतक मनुष्यका त्याग नहीं करता।

अतः संसारमें धर्म ही मनुष्यका सच्चा सहायक है। वही मनुष्यका सच्चा मित्र, सम्बन्धी, पिता-माता और गुरु है।

इसलिये मनुष्यको शाश्वत—सदा साथ चलनेवाले इस धर्मका सदा सेवन करना चाहिये।

## हमारा मानसिक धर्म

'धर्म' बड़ा व्यापक और महान् शब्द है। इसमें बड़ा अर्थ समाया हुआ है। सम्पूर्ण धर्मकी व्याख्या कौन कर सका है।

लेकिन धर्मके मूल तत्त्व हम जान सकते हैं। इन आधारभूत तत्त्वोंको जीवनमें उतार सकते हैं। इनसे जीवनको सुखी, शान्त और तृप्त बना सकते हैं। उन्नतिकर समाजमें लाभ उठा सकते हैं। स्वयं मनमें शान्ति लाभ कर सकते हैं। वह हमारा धर्म क्या है ?

लीजिये सुनिये—

**मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।**
**तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्॥**

( महाभारत शा० १९३। ३१ )

अर्थात् बुद्धिमान् सब प्राणियोंके लिये मुख्य धर्म मानसिक धर्मको कहते हैं। यह मानसिक धर्म क्या है ?

सब प्राणियोंके सम्बन्धमें अपने मनमें सदा कल्याणकी भावना रखना। मन-वचन-कर्मसे किसीका बुरा न चाहना ही मानसिक धर्म है। जैसा हम मनमें दूसरोंके लिये विचार करते हैं, वैसा ही वातावरण तैयार होता है। दूसरोंके प्रति ईर्ष्या, द्वेष या क्रोधका भाव हमारे गुप्त मनमें विषैले वातावरणका निर्माण करता है। फिर यही हमें महान् हानि पहुँचाता है। दुर्भावसे हम स्वयं भी उद्विग्न बनते हैं।

इसके विपरीत, 'सब सुखी रहें, सबकी उन्नति हो, सब स्वस्थ रहें, सबको समृद्धि मिले'—ये भाव रखनेसे स्वयं हमारा मन तृप्त रहता है, दूसरोंको भी हमारे आशीर्वादसे लाभ पहुँचता है।

**मनसः प्रतिकूलानि प्रेत्य चेह न चेच्छसि।**
**भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः॥**

हे मानव! तू इस संसारमें और दूसरे लोकमें भी मनकी प्रतिकूल भावनाओंको नहीं चाहता। अतः संयम करके तुझे भी प्राणियोंके प्रतिकूल कर्मका आचरण नहीं करना चाहिये।

जिन कार्यों या विचारोंसे प्राणियोंकी भलाई या उन्नति नहीं होती, जिनसे किसीको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ नहीं होता, वे अधर्म और पापमूलक हैं।

मनुष्य होकर भी जो किसीका कोई उपकार नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है। उससे अच्छे तो वे पशु हैं, जिनका चमड़ा मरनेपर दूसरोंके काम आता है।

शीलयुक्त स्वभाव, शौर्य, आलस्यका अभाव, विद्या और अच्छा मित्र—ये पाँच धार्मिक अक्षय निधियाँ हैं, जिन्हें न कोई चुरा सकता है, न अपहरण कर सकता है। इन्हें उत्तरोत्तर विकसित करना धर्मका अङ्ग है।

**असता धर्मकामेन विशुद्धं कर्म दुष्करम्।**
**सता तु धर्मकामेन सुकरं कर्म दुष्करम्॥**

जो मनुष्य धर्म-जैसे दैवी गुणकी कामना तो करता है, परंतु अपने आचरणको शुद्ध नहीं बनाता, उसके लिये शुद्ध कर्म करना कठिन है; परंतु जो धर्मकी कामना करनेवाला आचरणको भी शुद्ध बनाता है, वह कठिन कार्यको भी आसान कर लेता है।

धर्म हमारे आचरणसे प्रकट होना चाहिये। अनेक बार हम धर्मका ढोंग करते रहते हैं। अपनी पशुवृत्तियोंतकको संयमित नहीं करते। इन पशुवृत्तियोंको काबूमें रखना, सबसे मधुर और शिष्ट बातें तथा व्यवहार करना, कभी कुशब्दोंका प्रयोग न करना, सबसे 'आप' कहकर सम्बोधन करना, सबके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, दूसरोंके सद्गुणोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करना, अपने वायदेको पूरा करना—ये सब हमारे दैनिक आचरणके अङ्ग हैं। जो धर्म-जैसे दैवी गुणको ग्रहण करनेका सम्मान लेना चाहते हैं, उन्हें अपना आचरण सभ्य और सुसंस्कृत बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। धार्मिक व्यक्तिको समाजमें पूरी तरह शिष्ट और मधुर होना चाहिये। शुद्ध और सत् आचरण ही धर्मका अङ्ग है।

**धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः।**
**स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम्॥**

(महाभारत शा० १६०।६)

महर्षियोंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे धर्मके अनेक भेद कहे हैं। पर उन सबमें दम—आत्म-संयम सर्वोत्कृष्ट है।

आत्म-संयमसे अर्थ है—स्वयं अपने आपको सुधारने, विकसित करने, बुराइयाँ त्यागने तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ तथा इन्द्रिय-विकारोंको रोकनेका प्रयत्न करना। आत्म-संयमीका अपनी इन्द्रियोंपर काबू होता है। तनिक-सा भी विकार या दुर्गुण उसे सहन नहीं होता। पान, बीड़ी, सिगरेट, चाय, कोको, कहवा, गाँजा, चरस, शराब इत्यादि कोई व्यसन उसके पास नहीं फटक सकते। व्यभिचार और अनैतिकता तो उसे किसी भी तरह आकृष्ट नहीं कर सकते। वह अपनी पाशविक वृत्तियोंपर कठोर नियन्त्रण रखता है।

धार्मिक व्यक्तिको अपने मनपर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिये। गंदा विचार, गंदे स्थान, गंदे दृश्य कदापि नहीं देखने चाहिये। मनकी स्वच्छता धर्म है—

**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**
**चित्ते चलति संसारो निश्चले योग उच्यते॥**

स्मरण रखिये, आपका विकारोंसे भरा हुआ मन ही आपके कल्पित भय और बन्धनोंका कारण है। स्वच्छ और निर्मल मन ही आपको सुख, शान्ति, मोक्ष प्रदान करनेवाला मित्र है। चित्तको भली दिशाओंमें चलाने और शक्ति-साहसके विचार धारण करनेमें ही धर्म है, योग है। मनको गलत दिशाओंमें बहकने देनेसे सारा संसार प्रपञ्च दीखता है। इसी चित्तके ठिकाने रहनेसे, स्थिर और संतुलित रहनेसे ही मोक्ष है।

पूर्णे मनसि सम्पूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥

( योगवाशिष्ठ ५ । १२ । १४ )

यदि मनपर काबू हो गया, तो सारा संसार अमृतसे भरा हुआ दीखेगा । पैरमें जूता पहन लेनेसे सारी पृथ्वी चमड़ेसे ढकी हुई प्रतीत होती है ।

दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानाधीतं चातिवर्तते ॥

( महा० शा० १६०–८ )

याद रखिये, जो मनुष्य आत्मसंयमी नहीं है, उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होती । आत्मसंयम दान, यज्ञ और ज्ञानसे भी बढ़कर है ।

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ॥

( वनपर्व २०९ । ४२ )

धर्मका रहस्य जाननेवाले सत्य और सरलताको परमधर्म कहते हैं । शाश्वत धर्मका ज्ञान कठिनाईसे होता है, परंतु वह शाश्वतिक धर्म सत्यमें ही पाया जाता है ।

हम वास्तवमें जैसे नहीं हैं, वैसे दिखानेका ढोंग करना अधर्म है । धर्ममें नकलीपन या धोखेबाजी नहीं चल सकती । यदि हम सच्चे सेवी हैं, सच्चे नेता हैं, सच्चे समाज-सुधारक हैं, तब ही अपने आपको सेवक, नेता या समाज-सुधारक कहें । व्यावहारिक जीवनमें कपट और नकलीपनको कदापि स्थान न दें । धर्म अभिनयमें नहीं है ।

हम प्रायः देखते हैं कि मनुष्य भगवा-वस्त्र पहिन, राम-रामवाले वस्त्रोंको धारणकर, हाथमें माला-कमण्डलु लेकर, दाढ़ी बढ़ाकर धर्मके नामपर या सफेद खादी पहन और गाँधी टोपी लगाकर देशभक्तिके नामपर जनताको पथभ्रष्ट करते हैं । उनके जीवनमें धर्मसे तनिक भी लाभ नहीं होता । यह असत्य आचरण धर्मका सबसे बड़ा शत्रु है । बाहर-भीतर एक होना धर्मका मूल तत्त्व है । सच्चा धार्मिक व्यक्ति वह है जिसके जीवनमें छिपानेके लिये कुछ भी अवशेष न रह जाय । पारदर्शी काँचकी तरह सब कुछ उजागर रहे, स्पष्ट रहे । जहाँ कुछ छिपानेके लिये है, वहीं पाप है । मनुष्य पापको छिपाता है, सत्य सूर्यकी भाँति दीप्तिमान् है । इसलिये दैनिक जीवन और सार्वजनिक व्यवहारमें सच्चे बनिये, बनावटीपन, ढोंग, धोखेबाजीका तुरंत परित्याग कर दीजिये ।

सत्यसे ही पृथ्वी स्थिर है । सत्यसे ही सूर्य प्रकाश देता है । सत्यसे ही वायु बहती है । सब कुछ सत्यके ही बलपर स्थिर है ।

ये कुछ तत्त्व धर्मके अङ्ग हो सकते हैं । इनके शुद्ध विकाससे मनुष्य शान्त, सुखी और स्वस्थ रह सकता है । समाज और देशका उपकार कर सकता है । धर्म हमारी नैतिकता, बुद्धि और सन्मतिका विकास करता है । हमें सच्चे अर्थोंमें मनुष्य बनाता है ।

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥
सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥
असाधुभ्योऽस्य न भयं चोरेभ्यो न च राजतः ।
अकिंचित्कस्यचित् कुर्वन्निर्भयः शुचिरावसेत् ॥
सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥

( महा० शान्ति० )

'धर्म मनुष्योंका मूल है, धर्म ही स्वर्गमें देवताओंको अमर बनानेवाला अमृत है, धर्मका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य मरनेके अनन्तर नित्य सुख भोगते हैं ।'

'परम्परागत सदाचार, स्मृति और वेद—ये तीनों धर्मके स्वरूपका बोध करानेवाले हैं । विद्वान् पुरुषोंने प्रयोजन अथवा फलको भी धर्मका चौथा लक्षण माना है ( अर्थात् जिसका उद्देश्य एवं परिणाम शुभ है, वह धर्म है ) ।

'जो किसीका कुछ भी अनिष्ट नहीं करता, उसे न दुष्टोंसे भय है, न चोरोंसे और न राजासे ही । वह परम पवित्र एवं निर्भय होकर रहता है ।'

'युधिष्ठिर ! जो बर्ताव अपनेको प्रिय जान पड़ता है, वही सब यदि दूसरोंके प्रति किया जाय तो उसे मनीषी पुरुष धर्म मानते हैं । संक्षेपमें धर्म-अधर्मको पहचाननेका यही लक्षण समझो ।'

# आत्माका निवासस्थान हृदय-प्रदेश

( लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज )

आत्मचैतन्य, ईश्वरचैतन्य और ब्रह्म—इन तीनोंको श्रुति भगवतीने सर्वव्यापक बतलाया है। चैतन्यदृष्टिसे तीनों एक ही तत्त्व हैं; तीनोंमें कुछ भी भेद नहीं है। वह चैतन्य महाब्रह्माण्डमें सर्वत्र अणु-अणुमें व्याप्त हो रहा है। अतएव उस सर्वव्यापक चैतन्यको एकदेशीय नहीं कह सकते। तथापि जो श्रद्धालु भक्त-उपासक पारमार्थिक कल्याण या ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छासे अथवा मनको वशमें करनेकी चाहनासे आत्माका ध्यान देहके भीतर एक देशविशेषमें करना चाहता है, उसे हृदयके भीतर बुद्धिवृत्तिको स्थिर करना चाहिये—यही श्रुति, भगवद्गीता आदि स्मृति तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंकी आज्ञा है।

## उरोहृदय

हृदयके दो भेद हैं—बाह्य हृदय और अन्तर्हृदय। बाह्य-हृदय वक्षःस्थलमें दो फुफ्फुसोंके बीचमें अवस्थित है, जिसमें अहर्निश रक्ताभिसरण क्रिया होती रहती है। इस हृदयसे सामान्यतः सब लोग परिचित हैं। मस्तिष्क-सुषुम्नाके भीतर प्रवाहित प्राण धमनियोंके द्वारा निरन्तर इसको प्रेरणा पहुँचाता रहता है, जिससे यह आजीवन यन्त्रवत् कार्य करता रहता है। इसको उरोहृदय भी कहते हैं।

## शिरोहृदय

इसके अतिरिक्त दूसरा हृदय मस्तिष्कमें है, जिसे मुख्य-हृदय या अन्तर्हृदय कह सकते हैं। श्रुतिने इसको 'ब्रह्मपुर' की संज्ञा प्रदान की है। तान्त्रिक लोग इसको 'सहस्रार' कहकर पुकारते हैं, मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् आदि श्रुतियोंमें भी इसकी 'सहस्रार' संज्ञा प्राप्त होती है। इसीको शिरोहृदय कहते हैं। प्राचीन वैदिक साहित्यमें दोनों हृदयोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण तथा दोनोंके कार्योंका महत्त्व होनेके कारण दोनोंकी हृदय संज्ञा प्राप्त है। आयुर्वेदकी प्राचीन संहिताओंमें भी मस्तिष्क-हृदयका उल्लेख मिलता है।

## हृदयप्रदेश

जिस प्रकार रक्तवाहिनी धमनियोंका उद्गमस्थान उरो-हृदय है, उसी प्रकार प्राणवाहिनी नाड़ियाँ मस्तिष्क-सुषुम्नासे उद्भूत होती हैं, जिसके भीतर हृदय-प्रदेश अवस्थित है। बृहदारण्यक उपनिषद् २। १। १९ तथा योगशिखोपनिषद् अध्याय ६ में प्राणवाहिनी नाड़ियोंकी संख्या ७२,००० बतलायी गयी है। इनके उद्गमस्थान मस्तिष्क-सुषुम्नामें कई चक्र बने हैं, जो मस्तिष्कस्थित सहस्रारसे लेकर नीचेकी ओर आधारचक्र तक फैले हुए हैं और इन सबकी समष्टि ही हृदयप्रदेशके नामसे जानी जाती है। हृदयप्रदेशका शिखर-स्थान शिरोहृदय है। इसीके भीतर ईश्वर, आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियोंके देवता तथा कामनाएँ अवस्थित हैं।

उरोहृदयके पास अनाहत चक्र है, जो उसे चेतना प्रदान करता है। नाभिस्थलमें चेतनता प्रदान करनेवाला मणिपूर चक्र है। इसी प्रकार अन्यान्य चक्रोंका प्राण-मार्गद्वारा परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। शिरोहृदयस्थ मनके अनुकूल प्राण वक्षःस्थलमें स्थित हृदयके द्वारा सारे शरीरमें रुधिराभि-सरणकी क्रिया कराता रहता है।

## सृष्टिके दो मूल तत्त्व रयि और प्राण

वैज्ञानिक लोग सृष्टिके मूल तत्त्वोंकी संख्या सौसे अधिक बतलाते हैं। परंतु शास्त्रों और वेदोंमें पारमार्थिक कल्याणकी दृष्टिसे अन्य ही प्रकारसे समझाया गया है। तैत्तिरीय श्रुतिकी ब्रह्मवल्लीमें लिखा है कि हिरण्यगर्भसे निर्मित आकाशादि पञ्चभूतोंके द्वारा सृष्टि हुई है, छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार आत्मा ( हिरण्यगर्भ ) ने प्रवेश करके त्रिवृत्तकरण अर्थात् अग्नि, अप् और अन्नके द्वारा सृष्टि की। श्वेताश्वतर उपनिषद्के अनुसार क्षर और अक्षरसे सृष्टिका निर्माण हुआ है। सांख्य-दर्शनने सृष्टिका मूल प्रकृति और पुरुषको माना है। इन सबमें सरल विचारसरणि प्रश्नोपनिषद्में पायी जाती है। वहाँ महर्षि पिप्पलाद अपने शिष्योंको उपदेश देते हुए कहते हैं—

**प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ १। ४-५॥**

प्रजाकी कामनासे प्रजापतिने ( हिरण्यगर्भने ) ज्ञानरूप तप अर्थात् संकल्प करके सृष्टिके साधनभूत रयि और प्राणके जोड़ेको उत्पन्न किया। इनमें यह प्रसिद्ध आदित्य ही प्राण है, जो विश्वको चेतना प्रदान करता है और यह चन्द्रमा ही रयि है। इस रयि और प्राणके संयोगसे ही इस सृष्टिका

निर्माण हुआ है। विश्वमें जो मूर्त्त ( स्थूल ) और अमूर्त्त ( सूक्ष्म ) द्रव्य हैं, वे सब रयि हैं। इनकी क्रिया और परिणामका अनुभव बुद्धिमें विशेषतः पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा होता है। जो रयिमें जीवनी शक्तिके रूपमें व्यापक है, वह प्राण है। वही विद्युत् है और वही वैश्वानररूप धारण करता है।

प्राण ही सूर्य बनकर विश्वका संचालन करता है और देहके भीतर प्राण ही अनेक रूपमें क्रिया करता है। बाह्य जगत्‌में प्राण ( विद्युत् ) का निवास विशेषतः वायुके भीतर है। तार, टेलीफोन, रेडियो आदिके द्वारा इसका अनुमान होता है। वायुसे विशेषरूपसे सम्बन्धित होनेके कारण प्राणको वायु भी कहा जाता है। परंतु आमाशय, आन्त्र तथा देहके अन्य अवयवोंके भीतर उत्पन्न होनेवाला वायु कुपित-वायु अर्थात् गैस है, वह प्राण नहीं है।

## प्राणके कार्य

प्राण-शक्ति प्राण-वाहिनी धमनियोंके द्वारा उरो-हृदयमें पहुँचकर उसे चेतना प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त आहारका पाचन, देहका पोषण, संरक्षण और संवर्द्धन, श्वास-निःश्वास-क्रिया, मल-मूत्र और स्वेदके मार्गसे मलका त्याग, सूक्ष्म मलका परिपाक करके केश और नखोंकी वृद्धिके रूपमें रूपान्तर करना, श्वसन क्रियासे प्राप्त वायु तथा ग्रहण किये हुए अन्न और जलसे प्राण-तत्त्व ( विद्युत् ) प्राप्त करके ऊपर ओजस् ( ब्रह्मवारि ) ( Cerebro-Spinal fluids ) के रूपमें व्यक्त करना, चक्रों, नाड़ी-ग्रन्थियों ( Ganglia ) तथा गौणचक्रोंमें विद्युत्-संग्रह करना इत्यादि कार्य निरन्तर करती रहती है। प्राणका संवर्द्धन वायु तथा अन्न-जलसे होता है और शारीरिक तथा मानसिक श्रम, देहके भीतरकी क्रियाएँ, क्रोध-शोकादिका आवेग, बाह्य आघात आदिके द्वारा प्राणका क्षय होता है। यदि दैवी आपत्ति या अपथ्य सेवनके द्वारा बाधा न हो तो प्राणका कार्य संतोषप्रद रीतिसे निरन्तर चालू रहता है।

## प्राण-तन्त्र

प्राणतन्त्रको आधुनिक शरीर-विज्ञानने वातनाडीमण्डल ( Nervous System ) की संज्ञा दी है। इसका मुख्य केन्द्र मस्तिष्क-हृदयके भीतर प्राण-गुहा (Fourth Ventricle) में है। इसके अतिरिक्त कई और अड्डे हैं, जैसे चक्र और ग्रन्थियाँ, उसके गौण केन्द्र—ये अड्डे मस्तिष्कसे लेकर सुषुम्नाके अन्ततक फैले हुए हैं। इन अड्डोंसे प्राण-वाहिनी धमनियाँ शाखाओं-प्रशाखाओंके रूपमें शरीरमें ऊपर-नीचे, तिर्यक्‌रूपमें सर्वत्र फैली हुई हैं। इन सबके भीतर प्राणकी गमनागमन क्रिया होती है, जिससे देहके सारे व्यापार चलते हैं। यह प्राण ही महाब्रह्माण्ड तथा विभिन्न शरीरोंमें सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होकर कार्य करता है। सारे शारीरिक व्यापार प्राणके ही अधीन हैं। जिस प्रकार माता संतानकी रक्षा करती है, उसी प्रकार प्राण शरीरका संरक्षण करता है। मन-बुद्धि और इन्द्रियोंको चेतनाशक्ति और ज्ञान यही प्रदान करता है। इसी कारण प्रश्नोपनिषद्‌में ऋषि प्राणकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

> **अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।**
> **ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥**
> **प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।**
> **मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञा च विधेहि न इति॥**

अर्थात् रथकी नाभिमें जैसे अरे प्रतिष्ठित होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें ही ऋक्-यजु-साम, यज्ञ, क्षत्र और ब्रह्म—सब प्रतिष्ठित हैं। भूतल, अन्तरिक्ष और द्युलोक—इन तीनोंमें जो कुछ अवस्थित है, यह सब प्राणके वशीभूत है। हे प्राण! माताके समान अपने इन पुत्रोंकी रक्षा कर। हमको श्री और प्रज्ञा प्रदान कर।

देहके भीतरकी सारी संवेदना और चेष्टा प्राणतन्त्रपर ही आधारित हैं, इनमें संवेदना चारों ओरसे केन्द्रस्थानमें प्राणके पास पहुँचती है और केन्द्रस्थानसे ही प्राण समस्त शरीरमें चेष्टा और क्रियाकी प्रेरणा करता है। संवेदना और चेष्टाका यह सारा व्यापार मस्तिष्क-सौषुम्निक नाड़ी-तन्त्र ( Cerebro-Spinal system ) ही करता है। इस तन्त्रके व्यापारके साथ मन-बुद्धिका सहयोग होता है। इस सहयोगके अभावमें स्वतन्त्रतापूर्वक यह तन्त्र व्यापार नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त एक और नाड़ीतन्त्र पृष्ठवंशके बाहर है। उसमें काफी नाड़ी-चक्र अवस्थित हैं, उसे स्वतन्त्र नाड़ी-तन्त्र ( Autonomic Nervous system ) की संज्ञा प्रदान की गयी है। इस तन्त्रमें क्रियाशीलता स्वाभाविक रूपसे होती रहती है। इसकी शाखा-प्रशाखाएँ देहके सब स्थानोंमें फैली हैं। यह देहके संरक्षणके व्यापारमें लगा रहता है। रक्ताभिसरण, अन्न-पाचन आदि सारे व्यापार इसके द्वारा होते हैं। क्रोध, शोक, चिन्ता आदि मनोवेगोंका प्रभाव भी इस व्यापारपर पड़ता है। यह नाड़ीतन्त्र भी प्राणके ही अधीन है।

योगशिखोपनिषद्के ६ ठे अध्यायमें लिखा है—

**ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम् ।**
**द्विसप्ततसहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः ॥**

अर्थात् नाड़ी-संस्थानका मूल ऊर्ध्व ( मस्तिष्क हृदयमें ) है और सुषुम्ना-स्थित शाखाएँ अधः—नीचेकी ओर हैं । इनके द्वारा प्राण चारों ओर विचरण करता है । इसके विचरणके लिये बहत्तर हजार नाड़ियोंका जाल सारे शरीरके भीतर फैला हुआ है ।

## सुषुम्ना

श्रुति, तन्त्रशास्त्र तथा योगके अन्यान्य आचार्योंने सुषुम्नाका आकार स्मेर धुस्तूरपुष्प ( विकसित धतूरेके फूल ) के सदृश लिखा है । उनके मतसे सुषुम्ना-शीर्ष और सुषुम्ना-काण्ड, दोनोंका समावेश सुषुम्नाके भीतर होता है । वे सुषुम्नाको पञ्चपर्वा बतलाते हैं । वे पर्व हैं—( १ ) सुषुम्ना-शीर्ष, ( २ ) शीर्षभागमें अवस्थित दो अन्य पर्व, ( ३ ) ग्रीविका स्फीति ( जो कण्ठप्रदेशमें है ) और ( ४ ) कटिकास्फीति, जो कटिप्रदेशमें है । इस प्रकार कुल पाँच पर्व हैं । आधुनिक शारीर-शास्त्र ( Anatomy ) ने सुषुम्ना-शीर्षको लघुमस्तिष्कके अन्तर्गत माना है । इससे प्रथम तीन पर्वोंको छोड़कर काण्डभागमें केवल दो पर्व रह जाते हैं ।

प्राचीन आचार्योंने सुषुम्ना-प्रदेशके निम्न पाँच चक्रों- ( Plexuses ) को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है ।

( १ ) मूलाधारचक्र ( Pelvic plexuses ) इसमें दो विभाग हैं ।

( २ ) स्वाधिष्ठान, जिसकी आधुनिक संज्ञा अधरान्त्रिक ( Inferio-mesenteric Plexuses ) है ।

( ३ ) मणिपूर, जिसे सौर मण्डल या ( Solar plexuses ) कहते हैं । यह उदरप्रदेशके भीतर आमाशयके पृष्ठभागमें और औदर्या महाधमनीके आगे अवस्थित है । जैसे सूर्यसे किरणें निकलती हैं, उसी प्रकार इस चक्रसे चारों ओर असंख्य प्राणवाहिनी धमनियाँ नाड़ीसूत्रके समीपस्थ नाड़ीचक्रोंमें, ग्रन्थियोंमें तथा नाभिके समीपके आशयोंमें फैली हैं । इसी कारण इसको नाभि या नाभिचक्र भी कहते हैं । यह चक्र उदरके अन्य सब चक्रोंसे बड़ा है । सुषुम्नासे सम्बन्धित इस चक्रके भागकी आधुनिक संज्ञा निम्न औरसीकेन्द्र ( Lower Thoracic centres ) है ।

( ४ ) अनाहत चक्र ( Cardiac plexuses ) । इस चक्रके भीतर उन्मन और गम्भीर दो चक्र हैं । इसके अतिरिक्त इनके सूत्र फुफ्फुस-सूत्रोंसे मिलकर वहाँ परिफुफ्फुस चक्रों ( Palmonary plexuses ) की रचना करते हैं । इस प्रकार यहाँ चार चक्र हो जाते हैं । इस चक्रका सुषुम्नासे सम्बन्धित भाग सुषुम्नाके अनुपृष्ठिक भागकी प्रथम चार कोशिकाओंके भीतर रहता है । इनकी आधुनिक संज्ञा ऊर्ध्व औरसीकेन्द्र ( Upper Thoracic Centres ) है । इस चक्रका बाह्यभाग हृदयके मूलभागमें ऊपरकी ओर अवस्थित है । उस स्थानमें अनाहत ( बिना प्रेरणा ) ध्वनि सुननेमें आती है, अतएव इसको अनाहत चक्र कहते हैं । हृदयसे वातनाड़ीका सम्बन्ध विच्छिन्न होनेपर अनाहत ध्वनि और उरोहृदयकी क्रिया बंद हो जाती है ।

( ५ ) **विशुद्ध चक्र**—यह आधुनिक भाषामें परिग्रसनिक अर्थात् Pharyngeal plexus है । इस चक्रका सुषुम्नासे सम्बन्धित अन्तर्भाग सुषुम्नाशीर्षमें अवस्थित है, जिसकी आधुनिक संज्ञा ऊर्ध्व परिस्वतन्त्र भाग ( Upper Parasympathetic portion ) है ।

शीर्षप्रदेशमें अवस्थित ये दो चक्र हैं—

( ६ ) **आज्ञा चक्र**—कन्दाधरिक प्रदेश ( Hypothalamic region ) दोनों आज्ञा कन्दोंसे आच्छादित ब्रह्मगुफाका एक प्रदेश है । यह मन और बुद्धिका निवासस्थान है । यह चक्र स्वतन्त्र नाड़ीमण्डलके केन्द्रके रूपमें कार्य करता है । निद्राकेन्द्र भी इसी प्रदेशमें है ।

(७) **सहस्रदल पद्म या सहस्रार** ( Cerebrum )—आयुर्वेदमें इसको मस्तुलुङ्ग नामसे पुकारते हैं । तन्त्र-शास्त्रमें सहस्रारके दोनों गोलार्द्धोंमें अवस्थित ऊर्ध्वप्रदेशको शून्यदेश या परमशिव स्थान कहा है । इसके निम्नप्रदेशमें ब्रह्मगुह्य, प्राणगुह्य, बुद्धिक्षेत्र और चारों ओर प्रसरित नाड़ी-सूत्र हैं । इस प्रदेशके ऊपरी भागमें ओज अर्थात् ब्रह्मवारि ( Cerebro-spinal fluid ) भरा हुआ है । आँखोंको मूँदकर इस स्थानमें मनोवृत्तिको केन्द्रित करनेपर इसमें प्राणतत्त्व अर्थात् परओज विद्युत्की अनुभूति होती है । मण्डलब्राह्मणोपनिषद्में लिखा है—

**अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिःस्वरूपं भवति । महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम् । सहस्रारे जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम् । बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे ।**

शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित्। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके । उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव ।

—( प्रथम ब्राह्मण )

अर्थात् इसके अन्तर्गत ज्योतिर्मय जल दीख पड़ता है। वह महर्षियोंके द्वारा ही जाना गया है, अन्तः और बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा दृश्य नहीं है। सहस्रारके भीतर जल-ज्योति दीख पड़ती हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि बुद्धिगुहामें सर्वाङ्गसुन्दर पुरुषरूप दीखता है। कुछ दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें शीर्षस्थानके अन्तर्गत मण्डलके बीच उमाके साथ पञ्चवक्त्र नीलकण्ठ भगवान् प्रशान्तरूपमें दीखते हैं। किसीको अङ्गुष्ठ-प्रमाणमें पुरुष दीखता है। ये सब विकल्प आत्माके ही हैं।

हृदयप्रदेशके विषयमें छान्दोग्योपनिषद् ( ८ । ६ । ६ ) तथा कठोपनिषद् ( २ । ३ । १६ ) में लिखा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका ।

अर्थात् हृदयप्रदेशमें १०१ नाड़ियाँ हैं। इनमेंसे एक सुषुम्ना नाड़ी मूर्धाको भेद करके बाहर निकलती है।

## हृदयसे निस्सृत ७२००० नाड़ियाँ

प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति।

( ३ । ६ )

यह जीवात्मा हृदयगुफाके आकाशमें अवस्थित है। इस हृदयप्रदेशसे १० नाड़ियाँ निकलती हैं, उनकी सैकड़ों शाखाएँ हैं, प्रत्येक शाखाकी बहत्तर-बहत्तर प्रतिशाखाएँ हैं, इस प्रकार ७२००० नाड़ियाँ हैं, जिनमें प्राण विचरण करता है। देहमें रुधिरवाहिनी नाड़ियोंकी संख्या इसकी अपेक्षा कम है। प्राण इन रुधिरवाहिनी नाड़ियोंमें भी आवागमन करता है। इस प्रकारके प्राणको श्रुतिमें व्यानके नामसे पुकारते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् अ० २। १। १९ और ४। २। ३में सिता नामक ७२००० नाड़ियोंका उल्लेख है। इनको बालके हजारवें भागके समान सूक्ष्म बतलाया है। आधुनिक शारीरशास्त्र ( Anatomy ) के अनुसार इनमें स्थूलतम नाड़ीसूत्रकी मोटाई १४। १५ मिलीमाइक्रन अर्थात् $\frac{1}{250000}$ इंच है और सूक्ष्मतम नाड़ीसूत्रकी मोटाई १.८ से ३.६ मिलीमाइक्रनतक है।

## अङ्गुष्ठमात्र पुरुष

श्वेताश्वतर अ० ३। १३ और कठोपनिषद् अ० २। ३। १७ में लिखा है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

अर्थात् अङ्गुष्ठ-प्रमाण अन्तरात्मा, जीवात्मा सदा प्राणीमात्रके हृदयमें अवस्थित रहता है। मस्तिष्क हृदयके भीतर ब्रह्मगुहा ( Third Ventricle ) के भीतरका आकाश सूक्ष्म अङ्गुष्ठप्रमाण है। इस कारण उसमें स्थित अन्तरात्माका प्रमाण श्रुतिने अङ्गुष्ठमात्र कहा है।

वक्षःस्थलमें स्थित हृदयका प्रमाण मुट्ठी जितना बड़ा है। इससे प्राणवाहिनी नाड़ियाँ नहीं निकलती हैं।

## शिरोहृदय अर्थात् ब्रह्मपुर

छान्दोग्य अ०८।१।४ तथा मुण्डक अ०२।२।७ के निम्न

अस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा—

( छान्दो० ८ । १ । ४ )

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।

( मु० २ । २ । ७ )

अर्थात् 'इस ब्रह्मपुरके भीतर सब भूत और सारी कामनाएँ समाहित हैं।' 'यह आत्मा इस ब्रह्मपुरमें दिव्य व्योममें प्रतिष्ठित है।'

तैत्तिरीय श्रुति ( २। १ ) में भी 'परमे व्योमन्' शब्दसे परम व्योमकी हृदय-गुफामें अवस्थिति बतलायी है। इन सब स्थलोंमें हृदय-गुफा, ब्रह्मपुर या दिव्य व्योम आदि स्थल उरोहृदयसे पृथक् बतलाये गये हैं।

## शिरोहृदयसे सुषुम्नाका ऊर्ध्वगमन

तैत्तिरीयोपनिषद्में लिखा है—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले।

( शिक्षावल्ली षष्ठोऽनुवाकः )

अर्थात् यह जो मस्तिष्क हृदयके भीतर अवकाश है, इसमें मनोमय अमृतस्वरूप हिरण्मय पुरुष रहता है। श्रुति और भी स्पष्ट रूपसे कहती है कि दोनों तालुओंके बीचमें वह जो स्तनके समान लटकता है, वह इन्द्रयोनि है (अर्थात् आत्मगुहा है)। जहाँ सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा प्राण शीर्षकपालको भेद करके केशोंके मूलतक बाहर फैलता है।

लघु मस्तिष्क (Cerebellum) के निम्नतलके अन्तःप्रदेशमें सुषुम्ना-शीर्ष (Medulla oblongata) है। उसका निम्नभाग सुषुम्ना काण्ड (Spinal cord) पशुओंके स्तनसदृश कोमल मांसपिण्डके रूपमें लटक रहा है। उसके निम्न प्रदेशमें त्रिकोणाकार अति सूक्ष्म गुहा (Terminal Ventricle) है। यहाँसे ब्रह्मगुहा और केशोंके मूलतक मार्ग (Central Canal) गया हुआ है।*

श्रीसायणाचार्यने अपने तैत्तिरीय आरण्यकके भाष्यमें इस वाक्यका अर्थ मुँहके भीतर अवस्थित तालु तथा कण्ठमें लटकनेवाला काकलक (Uvula) किया है। फिर विवेचन करते हुए अन्तमें 'शाखाचन्द्रन्यायवत्' कहकर अन्तः-अवस्थित तालुसदृश और स्तनसदृश भाग बतलाया है।

## सहस्रारमें परमात्माका निवास

महानारायणोपनिषद् १३ वें अनुवाकमें लिखा है—

**तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।**
**स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥**

सुषुम्नाके भीतर अवस्थित वह्निकी शिखा जो सहस्रारमें गयी है, उसके भीतर परमात्माका निवास है। वही ब्रह्म है, वही सदाशिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षरसंज्ञक अन्तर्यामी है, वही परम स्वराट् है। यह भावार्थ तैत्तिरीय आरण्यक, दशम प्रपाठकके अनुवाकपर श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार लिखा गया है।

## दो हृदय

योगवाशिष्ठ महारामायण, उपशमप्रकरण, सर्ग ७८। ३३ से ३८ श्लोकतक उरोहृदयको हेय और सहस्रारके भीतर ब्रह्मगुहाके आकाशको उपादेय हृदय बतलाया है। यथा—

**साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम्।**
**उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु॥**
**इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोऽन्तरम्।**
**हेयं तद्धृदयं विद्धि तनावेकतरे स्थितम्॥**
**संविन्मात्रे तु हृदयं उपादेयं स्थितं स्मृतम्।**
**तदन्तरे च बाह्ये च न च बाह्ये न चान्तरे॥**
**तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम्।**
**तदादर्शः पदार्थानां तत्कोशः सर्वसम्पदाम्॥**
**सर्वेषामेव जन्तूनां संविद्धृदयमुच्यते।**
**न वेदावयवैकांशजडजीर्णोपलोपमः॥**
**तस्मात्संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासनः।**
**बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥**

विस्तार-भयसे श्रुति-स्मृतिके अधिक प्रमाण तथा तन्त्र-शास्त्र, आयुर्वेद, श्रीमद्भागवत, जयाख्यसंहिता तथा आधुनिक गर्भविज्ञानशास्त्र (Embryology) आदिके प्रमाण यहाँ उद्धृत नहीं किये जा सके हैं, सुविज्ञ पाठकवृन्द इन ग्रन्थोंमें भी इस आलोच्य विषयके समर्थनमें सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।

---

* Gray's Anatomy—(31st Edition, 1954—Page 967. Note—R. S. Dow and R. Arderson using the electrical method of investigation confirmed the passage of proprioceptive stimuli from the muscles of the limbs to the pyramid (लघु मस्तिष्कके निम्नस्तलके ठीक बीचमें अवस्थित शलभिका तुन्द). At the same time it is interesting to observe that they found that tactile stimuli applied to the hairs of the limbs aroused aclion potentials in the culmen and later in the pyramid and uvula.

# भक्त विभीषणके चरित्रका विकास

( लेखक—डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी )

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने विभीषणके चरित्र-चित्रणमें बड़ी सजगता और कुशलताका परिचय दिया है। जयचन्दके समान विभीषण भी एक दृष्टि-गिरा पात्र हो गया होता, यदि तुलसीकी उदात्त लेखनीने विभीषणका संशोधन न किया होता। वाल्मीकिका विभीषण धर्मज्ञ और नीतिज्ञ होते हुए भी रावणका पक्ष छोड़कर रामसे जा मिलता है। रावण और कुम्भकर्णके साथ विभीषण भी तपस्या करने गया। वाल्मीकि विभीषणके चरित्रके विषयमें कहते हैं कि वह धर्मात्मा पुरुष था। अतः सदा धर्ममें लगा रहता था। साथ ही वह पवित्रात्मा था।

**विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मपरः शुचिः।**

( बा० का० १०। ६ )

रावणके समान उसने तामसिक तप नहीं किया। वह वेदाध्ययन कर रहा था और हठयोग भी—

**तस्थौ चोर्ध्वं शिरोबाहुः स्वाध्याये धृतमानसः।**

( बा० का० १०। ८ )

रावणने अवध्यता माँगी, कुम्भकर्णने छमासी निद्रा तो धर्मात्मा विभीषणने ब्रह्मासे कहा, 'भगवन्! बिना सिखाये मुझे ब्रह्मास्त्रका प्रयोग आ जाय और मैं जिस आश्रममें रहूँ, मेरी बुद्धि धर्ममें लगी रहे ( बा० रा० बा० का० १०। ३१, ३२ )।

ब्रह्माने अभिलषित वर दिया।

जब रावणने हनुमान्‌को मार डालनेकी आज्ञा दी तो धर्मात्मा विभीषणने रावणसे कहा—'भाई! यह रामका दूत है। तुम धर्म और राजनीतिको भलीभाँति जानते हो। शास्त्र भी तुमने पढ़ा है। शास्त्रज्ञको कभी क्रोध नहीं करना चाहिये और राजनीतिमें दूत अवध्य है। अतः इसे कोई दूसरा दण्ड दे डालो। दूतको ये दण्ड दिये जा सकते हैं—विरूप कर देना, शरीरपर चाबुकसे आघात करना, सिर मुड़वा देना, तनपर कोई दाग देना—इनमेंसे कोई दे दो।' रावणने विभीषणका परामर्श मान लिया और पूँछ दागनेकी आज्ञा दी। विभीषणको हनुमान् पहले नहीं मिले थे। विभीषणकी धर्मबुद्धिने ऐसा कहनेके लिये प्रेरित किया था ( वा० सुन्दरकाण्ड, सर्ग ५१-५२ )।

राम सागरतटपर आ पहुँचे। रावणको सूचना मिली। रावणने मन्त्रियोंसे पूछा। सब मन्त्री एवं सेनापति रावणको बढ़ावा देने लगे और अपनी डींगे हाँकने लगे। ये लोग रावणके जीहजूरी थे, मीठी-मीठी बातें मिलाने लगे। तुरंत विभीषणने इनको रोका और भाई रावणको समझाया कि 'सीताको लौटा दो, ताकि हम सब बाल-बच्चोंसहित सकुशल लंकामें रहते रहें।' रावणने अनसुनी कर दी। संध्या हो चुकी थी। वह अपने राजभवनकी ओर चल दिया ( वा० युद्धकाण्ड, सर्ग ९ )।

विभीषण रात्रिमें पुनः राजभवन पहुँचा और उसने भाईको समझानेका पूरा प्रयास किया। उसने रावणकी प्रशंसा की, रावणके गुणोंका बखान किया और तब कहा—'भैया! जबसे रामप्रिया सीता लंकामें आयी हैं, नित्यप्रति अकुशल हो रहे हैं। अतः सीताको वापस कर दो।' रावण क्रुद्ध हो गरजा—'विभीषण! तू महाभीरु है। मुझे तो कहीं कोई भय नहीं दिखायी पड़ रहा है। मैं राम, लक्ष्मण और उनके साथियोंको चुटकीसे मसल डालूँगा। सीताको लौटानेका तो प्रश्न ही नहीं उठता है।' विभीषणने इसपर भी समझाया तो रावणने क्रुद्ध होकर कहा—'जाओ, अपने घर जाओ।' विभीषण प्रणामकर चला गया। ( सर्ग १० )

दूसरे दिन राज-सभामें रक्षा-योजनाकी बातें चलीं। कुम्भकर्णने कहा—'रावण! तूने यह अच्छा नहीं किया है, जो सीताका हरण किया। यह अनीति है। तब भी मैं तेरी सहायता करूँगा; क्योंकि तू मेरा भाई है। मैं तेरे सब शत्रुओंको नष्ट कर डालूँगा।' विभीषणने रावणको समझाया कि 'भाई! मेरी प्रार्थना है, सीताको लौटा दो। तुम न्याय और नीतिके मार्गपर नहीं हो। रामको तुम पराजित न कर पाओगे।' प्रहस्तने खड़े होकर कहा—'क्यों नहीं, हम रामको मार डालेंगे।' इसपर विभीषणने कहा—'कबन्ध, खर, दूषण, त्रिशिरा, वाली क्या कम वीर थे? वे रामके हाथों स्वर्ग सिधार गये। उस रामको तुम मार डालोगे? तनिक बुद्धिसे सोचो। तुम सब बड़े भाई रावणको कुमार्ग दिखला रहे हो। यह तो कामान्ध है, इसे कुछ भी दिखायी दे ही नहीं रहा है। यथार्थ मन्त्री वही है जो निर्भीक

होकर सच्ची सलाह देता है।' मेघनाद इसपर विभीषणकी निन्दा करता है। विभीषण भतीजे मेघनादको फटकारता है। पुत्रका यह अपमान रावणको असह्य होता है और वह विभीषणको बुरी तरह धिक्कारता है। वह कहता है—'मनुष्यका भयंकर शत्रु उसका अपना सम्बन्धी ही होता है। जातिवाले ही उसको नष्ट कर सकते हैं। जैसी बातें तुमने कही हैं, वैसी यदि किसी अन्यने कही होतीं तो मैंने उसका वध करा दिया होता। तुम कुलकलंक हो, तुम्हें धिक्कार है।'

विभीषण चार राक्षसोंके साथ आकाशमार्गसे उड़ा और बोला—'तुम भाई हो, पूज्य हो, राजा हो, चाहे जो कुछ मुझे कह सकते हो। मैंने जो कुछ कहा, तुम्हारे हितके लिये कहा था। मैंने वही कहा जो धर्ममय था। क्षमा करना। अब मैं तुम्हारे पास नहीं रह सकता हूँ। तुम सुखी रहो। अब कोई हितकी बातें कहकर तुमको नाश-मार्गपर जानेसे न रोकेगा।' ( सर्ग १६ )। इतना कहकर विभीषण रामके पास चला गया। वहाँ सुग्रीव उसे संदेह और अविश्वासकी दृष्टिसे देखता था। रामने नीति बरती और विभीषणको अपना मित्र बना लिया।

वाल्मीकिका विभीषण धर्म और न्यायके मार्गपर चलनेवाला है। उसे अनीति और अन्यायका पथ बिल्कुल नापसंद है। हनुमान्को राजदूत समझकर वह रावणको समझाता है कि 'दूत अवध्य है।' हनुमान्से उसकी कोई मित्रता या जान-पहचान पहलेसे न थी। रावणको अनीति और अधर्मके मार्गपर जाते देखकर वह बार-बार समझाता है परंतु रावण उलटे बिगड़ता है, विभीषणको दुत्कारता है। विभीषणकी धार्मिक प्रकृति रावणकी अधार्मिक वृत्ति—परस्त्री-हरण न सह सकी। विभीषण यह भी जान गया कि रावणका नाश अवश्यम्भावी है; क्योंकि वह अन्याय-मार्गपर है और त्रिशिरा, खर, दूषणको मारनेवाले प्रबल शत्रुसे वैर ठान रहा है। अतः वह रामसे जा मिला। यदि वह रावणके पास रहता तो तीन बार विरोध करनेके बाद वह शत्रुका पक्षपाती माना जाता। फिर उसकी धार्मिकता अन्याय सहन न कर सकी।

अध्यात्मकारने विभीषणके चरित्रमें संशोधन किया है, वैसे वह वाल्मीकिका ही विभीषण है। अध्यात्मका विभीषण ब्रह्मासे वही धर्मबुद्धि माँगता है, जो वाल्मीकिके विभीषणने माँगी थी ( अ० उत्तरकाण्ड २। १८ )। अध्यात्ममें भी वाल्मीकिरामायणके अनुसार जब रावणने हनुमान्के वधकी आज्ञा दी तो विभीषणने नीति समझायी कि कोई अन्य दण्ड दीजिये। रावणने परामर्श मान लिया। वाल्मीकिके समान राजसभामें विभीषण रावणको समझाता है कि सीताको लौटा दो और रामसे युद्ध न करो। वाल्मीकिके समान यहाँ विभीषण तीन बार नहीं समझाता है, केवल एक बार राजसभामें। अध्यात्मकार विभीषणको रामभक्त मानता है। कुम्भकर्ण रावणको समझा चुका और इन्द्रजीत अपनी डींग मार चुका तो वहाँ विभीषण आया। अध्यात्मकार कहता है कि विभीषणका हृदय भगवान्के चरणोंमें लगा रहता था—

**श्रीरामपादद्वय एकतानः प्रणम्य देवारिमुपोपविष्टः।**

( अ० यु० का० २।२० )

विभीषण, वाल्मीकिके विभीषणकी भाँति रावणको समझाता हुआ कहता है कि 'सीताको लौटा दीजिये, जबतक कि राम लंकाको भस्म न कर दें।' इसपर वाल्मीकिरामायणके रावणके अनुरूप अध्यात्मका रावण विभीषणको धिक्कारता हुआ कहता है—'विभीषण! भाईरूपमें तू मेरा शत्रु है। तू अनार्य है, कृतघ्न है। तुझे अपने साथ रखना ठीक नहीं है। जातिवाले ही जातिका नाश किया करते हैं। तुझे धिक्कार है। यदि अन्य व्यक्ति कोई ऐसी बात कहता तो मैं उसे मसल देता।' विभीषण चार साथियोंके साथ आकाशमें उड़ा। आकाशमें स्थित होकर जो कुछ उसने कहा, वह अध्यात्मकारका अपना दृष्टिकोण है और यही अध्यात्मकारका संशोधन है। वह रावणसे कहता है—'भगवान् राम सर्वज्ञ साक्षात् प्रकृतिसे परे हैं। वे सब प्राणियोंके अंदर और बाहर समानरूपसे आसीन हैं। तब भी नाम-रूप आदिसे भिन्न प्रतीत होते हैं। वे सदा निर्मल हैं। अग्नि एक है, परंतु वह भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ती है। स्फटिक मणिके पास विभिन्न रंगोंकी स्थितिसे स्फटिकमें भी विभिन्न रंग दिखायी देते हैं। वैसे ही अज्ञानी पुरुषोंको भगवान् भिन्न-भिन्न भासते हैं। वे अजन्मा हैं और तब भी जगत्को रचते हैं। वही स्वरचित जगका नाश भी कर डालते हैं। वही कालरूपी ब्रह्माकी प्रार्थनासे तुम्हारा वध करनेके लिये मायाश्रित होकर यहाँ आये हैं। उनके हाथों राक्षस-वंश नष्ट होगा। मैं रामके पास जाता

हूँ।' रामके पास जाकर भी जो कुछ अध्यात्मके विभीषणने कहा, वह भी वाल्मीकिसे भिन्न है। वह कहता है—'प्रभो! मैं रावणका छोटा भाई आपकी शरण हूँ। मुझे भाईने निकाल दिया है। मैंने उससे कहा कि सीताको लौटा दो तो वह तलवारसे मुझे मारने दौड़ा।' विभीषणने जो रामकी स्तुति की है वह अध्यात्मकारकी है और बड़ी सुन्दर है—

नमस्ते राम राजेन्द्र नमः सीतामनोरम।
नमस्ते चण्डकोदण्ड नमस्ते भक्तवत्सल॥
नमोऽनन्ताय शान्ताय रामायामिततेजसे।
सुग्रीवमित्राय च ते रघूणां पतये नमः॥
जगदुत्पत्तिनाशानां कारणाय महात्मने।
त्रैलोक्यगुरवेऽनादिगृहस्थाय नमो नमः॥
(अध्यात्म० युद्ध० ३। १७-१९)

तीसरे सर्गमें छन्द १७ से ३० तक १४ छन्दोंमें वह स्तुति है। रामने जब कहा—'विभीषण! वर माँग' तो विभीषणने माँगा—'कर्मबन्धनोंके नाशके लिये भक्तियुक्त ज्ञान दीजिये और परमार्थका ध्यान दीजिये। सदा आपके चरणोंमें मेरी भक्ति रहे (३। ३७)।' तब रामने अपने भगवत्-तत्त्वका रहस्य विभीषणको बताया।

अध्यात्मका विभीषण धार्मिक है, नीतिमान् है, पर साथ ही ज्ञानी और भक्त है। इस संशोधनको तुलसीने स्वीकार किया। अन्तर यही है कि अध्यात्मका विभीषण भक्तिके लक्षणोंसे युक्त ज्ञान माँगता है तो तुलसीका विभीषण केवल भक्ति माँगता है। अध्यात्मका विभीषण भक्त ज्ञानी है तो तुलसीका विभीषण विशुद्ध भक्त।

तुलसीदासने विभीषणके चरित्रमें बड़ा परिष्कार किया है। वह आरम्भसे ही भगवान्‌के भक्त-रूपमें मानसके मञ्चपर आता है। जब ब्रह्मा विभीषणसे वर माँगनेको कहते हैं तो वह भगवान्‌के पदकमलकी अमल भक्ति माँगता है—

गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु।
तेहिं माँगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु॥

तुलसीका सबसे बड़ा संशोधन है—सीता-खोजके समय हनुमान्-विभीषणकी भेंट। हनुमान् जब सीताको खोज रहे हैं तो उन्हें एक भवन दिखायी पड़ता है—

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरिमंदिर तहँ भिन्न बनावा॥

नानायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

विभीषणके भवनमें एक 'हरिमंदिर' अलग बना था। मकानपर धनुष-बाणके चिह्न अंकित थे। ठाकुरजीकी प्रिया तुलसीके पौधे जगह-जगह लगे थे। हरिमन्दिरसे निश्चय न हुआ था कि यह रामका मंदिर है या विष्णुका। रामायुध देखकर अब यह निश्चय हुआ कि यह रामका ही मंदिर है। तुलसीके पौधोंसे ज्ञात हुआ कि ये धनुष-बाण विष्णुके अवतार रामके ही हैं। प्रातःकालका समय था। विभीषण जब जागे तो बोले—'राम-राम!' हनुमान्‌ने ब्राह्मणका रूप धारण किया और वे विभीषणके निकट आ गये। विभीषण ब्राह्मणको देखकर बोले—

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥

यह वाणी किसी रामभक्तके ही हृदयसे निकल सकती थी। अब हनुमान्‌को कुछ गुप्त रहनेकी आवश्यकता न थी, अतः उन्होंने अपनी और रामकी कथा कह डाली। विभीषण हनुमान्‌से अपनी हार्दिक भक्तिका परिचय देते हुए कहते हैं—

सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥
जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥

हनुमान् उसे ढाढ़स देते हैं कि भगवान् राम तुमपर अवश्य दया करेंगे। तुम कहते हो, तुम तामस तनु हो, पर मुझे देखो, मैं कैसा हूँ—

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

इससे निश्चय ही विभीषणका धैर्य बँधा और आशा हुई। हनुमान् साथ ही ईश्वरके अभक्तोंको फटकारते हुए कहते हैं—

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥

सीधा-सा उपदेश है कि यदि रामको भूलोगे तो अवश्य दुःख-कूपमें पड़ोगे।

विभीषण और हनुमान् मित्र हो गये। दोनों रामके भक्त हैं। स्वाभाविक था जब हनुमान्के अङ्ग-भंगकी आज्ञा रावणने दी तो विभीषणने हनुमान्को बचानेका प्रयास किया। तुलसीका विभीषण भी वही कहता है जो वाल्मीकि एवं अध्यात्मका विभीषण कह रहा था—

'नीति बिरोध न मारिअ दूता' एवं
'आन दंड कछु करिअ गोसाँई'

विभीषणका हनुमान्की रक्षाका प्रयास इस प्रकार बहुत स्वाभाविक बन जाता है।

विभीषण रावणको समझाकर कहता है कि सीताको लौटा दो। परंतु मानसका विभीषण बार-बार रावणको एक मार्ग और दिखलाता है—

(क) सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत।
(ख) भजहु राम बिनु हेतु सनेही।
(ग) बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥

साथ ही राममें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करता हुआ विभीषण कहता है—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥

अध्यात्मका विभीषण रावणकी सभासे उठकर आकाशमें स्थित होकर रामका ब्रह्मत्व प्रतिपादित करता है, जो अनावश्यक और अस्वाभाविक है। आकाशमें जाकर कहनेसे क्या लाभ-हानि? बस, ब्रह्मत्वके प्रतिपादनार्थ ही यह सब कहलाया गया है। तुलसीका विभीषण रावणको समझाते हुए यह कहता है और समझाता है कि 'जिसे तुम साधारण नरेश मान रहे हो, वह केवल भूपाल ही नहीं है। वह ब्रह्म है; अतः सीताको लौटा ही न दो, वरं उसकी भक्ति भी करो।' ब्रह्म रामकी भक्तिपर ही तुलसीका विशेष बल है।

तुलसीका रावण भी वाल्मीकि एवं अध्यात्मके रावणोंकी भाँति विभीषणको डाँटता है और उसे 'शठ' और 'मूढ़' इत्यादि गालियोंसे सम्बोधित करता है—

जिअसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥

ऐसा कहकर रावणने विभीषणको लतियाया—

अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा।

यह चरण-प्रहार कहाँसे आया? वाल्मीकिमें इसका सर्वथा अभाव है। अध्यात्मका रावण भी मुखसे फटकारता है, हाथ या पैरसे मारता नहीं। हाँ, अध्यात्मका विभीषण रामके पास जाकर कहता है कि मैंने जब रावणसे कहा कि सीताको लौटा दो तो वह तलवार लेकर मुझे मारने दौड़ा। अध्यात्मका विभीषण यहाँ मनसे गढ़कर यह बात कहता है; क्योंकि इसके पूर्व ऐसी कोई घटना न घटी थी। तुलसीने बड़ी स्वाभाविकतासे विभीषणका घोर अपमान दिखा दिया। चरण-प्रहार, तलवारसे अधिक कष्टकर है। फलतः विभीषण अपने सचिवोंको साथ लेकर आकाश-मार्गमें स्थित हुआ और बोला—

राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालु बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥

मार्गमें विभीषणका हृदय भक्तकी भावनासे भरा है। वह सोचता है—

देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जो पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावन कारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
जिन्ह पायन्ह की पादुका भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

जब विभीषण रामके सम्मुख आया तो—

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥

उसके नयनोंमें जल था और तनमें पुलक थी। वह त्राहि-त्राहि कहकर रामके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

रामने अपनी भक्तिका भेद बताते हुए कहा—

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥

विभीषणने याचना की—

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥

रामने भक्तिके साथ लंकाका राज्य भी दे दिया। इस प्रसंगपर अपना मत प्रकट करते हुए तुलसीदास कहते हैं—

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥

वाल्मीकिका विभीषण भाईका पक्ष छोड़कर शत्रुसे जा मिला; क्योंकि रावणकी अधार्मिकता और अनीति वह न

सह सका। फलतः विभीषण देशद्रोहीके रूपमें जनतामें चर्चित हुआ। अध्यात्मने उसपर एक-दो रेखाएँ खींचीं; पर वे विभीषणको उठा न सकीं। तुलसीने उसे बहुत ऊपर उठा दिया और रामभक्तके रूपमें प्रस्तुत किया। रामचरितमानस लिखते समय भी उनकी दृष्टिमें था कि लोग विभीषणको दोष देते हैं। अतः उन्होंने भक्तके रूपमें उसका परिष्कार किया। जब विभीषण आकाशमार्गसे जाते हुए कहता है—

मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि।

तो तुलसीदासका ध्यान 'खोरि' ( दोष ) पर केन्द्रित था कि विभीषणको दोष लगाया जाता है।

रामचरितमानसके बाद भी तुलसीने विभीषणके चरित्र-का संशोधन किया है। 'गीतावली'में विभीषण रावणके यहाँसे एकदम रामके पास नहीं जाता है। वह माँके पास जाकर रावण-द्वारा लात मारनेकी कथा सुनाता है। माँ उसे समझाती है—

जाय माय पायँ परि कथा सो सुनाई है।
समाधान करति बिभीषनको बार बार,
'कहा भयो तात ! लात मारे, बड़ो भाई है॥
साहिब, पितु समान, जातुधान को तिलक,
ताके अपमान तेरी बड़िए बड़ाई है।'
गरत गलानि जानि, सनमानि सिख देति,
रोष किए दोष, सहें समुझें भलाई है॥

माँ साथ ही एक बात और भी ध्रुवकी माताके समान कह जाती है—

इहाँ तें बिमुख भए, राम की सरन गए,
भलो नेकु, लोक राखे निपट निकाई है॥

विभीषण माँके चरणोंमें शीश नवाकर जाता है। ( गीतावली सुन्दरकाण्ड—२६ )

विभीषण अब भी रामके पास नहीं जाता है। वह मार्गमें जा रहा है—और सोच रहा है 'बड़ी कठिन समस्या है। क्या करूँ ? रावणके साथ क्या व्यवहार करूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या रामके पास चला जाऊँ ? पहिले बड़े भाई कुबेरके पास चलूँ क्या ? उसकी सम्मति भी ले लूँ।' और विभीषण, कुबेरके भवनमें जाता है, जहाँ शिव उसे मिलते हैं—

'भाई को सो करौं, डरौं कठिन कुफेरै।
सुकृत-संकट पर्‍यो, जात गलानिन्ह गर्‍यो,
कृपानिधि को मिलौं पै मिलि कै कुबेरै'॥
जाइ गह पाँय, धाइ धनद उठाइ भेंट्यो,
समाचार पाइ पोच सोचत सुमेरै।
तहँई मिले महेस, दियो हित उपदेस,
( शिवने कौन-सा हितकारी उपदेश दिया ? )
राम की सरन जाहि, सुदिनु न हेरै॥
जाको नाम कुंभज कलेस-सिंधु सोखिबे को,
मेरो कह्यो मानि, तात ! बाँधै जिनि बेरै।

( गीतावली सु० का० २७ )

इस प्रकार विभीषण माता और बड़े भाई कुबेरका परामर्श एवं शिवका उपदेश पाकर रामकी शरणमें जाता है। तुलसीदासने रामचरितमानसमें विभीषणको रामका परम भक्त बनाकर और गीतावलीमें माँ, कुबेर और शिवका परामर्श दिलाकर उसे ऊपर उठा दिया है। आज विभीषणको भक्त मानकर ही हम उसकी कल्पना करते हैं एवं उसे सिर नवाते हैं।

## कौन है ?

पावन पदम पराग बिछाकर,
सुखद सुभग अनुराग जगाकर,
उपवनको जो सदा खिलाता,
नव रंगोंसे नित्य सजाता,
ऐसा सरस सुजान कौन है ?

सुधा-सिक्त सौरभ फैलाता,
नित प्रति नूतन रास रचाता,
कालचक्र भी बाँध न पाये,
सचराचर जिसके गुण गाये,
ऐसा मधुर महान् कौन है ?

ऐसा सरस सुजान कौन है ?
गुण-गरिमाकी खान कौन है ?

—गुलशन नवीन

# कटती हुई जड़ोंकी चुनौती

( लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन' )

कल रास्तेमें सक्सेना मिल गये। ७४ की उम्र; लटा हुआ शरीर, सीधे बेलौस आदमी। सदा माला जपते या पूजा-पाठमें लगे। थक गये हैं, शरीरमें रोगोंने घर कर लिया है। पर टूटते और टूटे हुए शरीरसे भी जीवनके नियत मार्गपर चले जा रहे हैं—कभी घिसटते, कभी फिसलते, कभी रेंगते, पर चले जा रहे हैं। प्रतिदिन भगवान्से उठा लेनेकी भीख माँगते हैं, जानते हुए कि जबतक नियत दिन नहीं आता यह भीख भी न मिलेगी।

मुझसे मिलते हैं तो अपनी कठिनाइयाँ, अपनी व्यथाएँ, अपना दुखड़ा कह डालते हैं; जो कुछ आशा-अपेक्षा, घुटन-जलन हृदयमें संचित रहती है, उसे निकालकर मानो उन्हें कुछ चैन, कुछ शान्ति मिलती है। ज्वारमें कूड़ा-कर्कट बह जाता है।

सक्सेनाकी बीमारी बाढ़पर है। उन्हें पेशाबमें असीम वेदना होती है; रुक-रुक कर बड़ी मुश्किलसे मूत्र निर्गत होता है, बिन्दु-बिन्दु घण्टेमें कई बार। वेदनामें भगवान्को पुकारने लगते हैं; चीखते हैं। घरमें पत्नी है, बच्चे हैं, बड़ी साधोंसे उन्होंने इनको रखा है, पाला-पोसा है। जब शरीरमें दम था, उनकी सब तरहकी इच्छाओं-उमंगोंकी पूर्ति करते रहे हैं। पर आज जब वह रोगी हैं, कोई उन्हें सँभालता नहीं है—मेरा मतलब है, सँभालना जिसका नाम है उस रूपमें नहीं सँभालना। चीखते पतिके पास स्त्री नहीं फटकती या कभी फटकती भी है तो शिकायतके साथ कि वह क्या-क्या करे। उसके अपने बच्चे हैं; विवाहित कन्या है, दामाद हैं, उनके बच्चे हैं। गृहस्थी है, भोजन-छाजन है, हजार काम हैं। अब उन्हें देखे या इन्हें सँभाले।

आज उनका कोई सहारा नहीं है—सिवा उस एक सहारेके जो सबका सहारा है और सबको प्रत्येक स्थितिमें प्राप्त है—'हारेको हरिनाम'। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह अच्छा ही है कि जो सबके अवलम्ब हैं और जिनके बिना सब निस्सार है, वह उन्हें खींच रहे हैं।

परंतु सक्सेना जो दुखड़ा रो गये, वह कोई एकाकी नहीं है। अवधेशने कुछ कहा नहीं, पर अभी-अभी जो सांघातिक बीमारी वह झेल गया है उसमें मौतके साथ कई-कई दिनोंकी आँखमिचौनी मैंने देखी है—अवधेश जिसकी शालीनता, सज्जनताकी दुनिया प्रशंसक है। किंतु वहाँ भी मैंने वही हाल देखा है। गहरी व्यथा भोगते हुए भी भरे-पूरे घरके बीच, सीधी-सादी परिश्रमी पत्नी और समर्थ पुत्रोंके होते भी एकाकी, बियाबानमें भटकता यात्री; शरीर-कष्टके साथ असीम मानसिक विच्छेदके बीच जी रहा अवधेश। वहाँ भी स्त्री घरके अनेक कामोंमें व्यस्त, एक मिनट चैनसे न बैठनेवाली।

और वह जो लछमिनिया मिट्टीके ढेले घरोंमें बेचकर गुजर करती थी और अभी-अभी मर गयी है—काँपते पैरोंसे अब गिरी, अब गिरी, पर पापी पेटमें दो कौर डालनेके लिये रिरियाकर मिट्टी बेंच जानेवाली लछमिनिया—जवान-जवान कई बेटोंकी माँ, बेटोंकी बहुएँ-बच्चों—सबके बीच भी घरसे अलग कर दी गयी; क्योंकि आज उसका पौरुष थक गया है, अब वह उन्हें कुछ दे नहीं सकती, लेनेका समय उसका आया है। तब कौन उसे रक्खे, कौन उसकी सेवा करे ? गाय बूढ़ी हो गयी है, दूध देना बंद कर दिया है। तब इस जमानेमें कौन उसे बाँधकर खिलायेगा ? कहनेपर लड़के कहते हैं और बहुएँ और भी जोरसे बोलती हैं—बात तो भैया ठीक है; परंतु इतने बाल-बच्चोंको ही नहीं पूरा पड़ता, भला औरोंका बोझ कहाँसे उठा सकते हैं ?

सक्सेना, अवधेश और लछमिनिया न्यूनाधिक एक ही परिस्थितिमें हैं। टूटते, बिखरते घरोंका अनास्थापूर्ण जीवन जहाँ सबको अपनी-अपनी पड़ी है; रोटीकी भाग-दौड़ और रोटीके साथ केवल शरीर-सुखकी चिन्ता। दायरा छोटा होता जा रहा है, सिकुड़ता जा रहा है। देश दूर, जाति दूर, समाज दूर। बल्कि अब कुटुम्ब भी नहीं, कुटुम्बमें केवल वही पोष्य है जो अपने संसार-सुख, अपने दैहिक भोगमें सीधे सहायक है। नहीं तो माता हो, पिता हो, पुत्र हो, स्त्री हो सब अपदार्थ हैं; किसीका कोई और मूल्य नहीं—बस क्या देगा ? वह मुझे क्या देगा ? और देनेमें भी जिंदगीके भोगकी, दुनियाकी क्या चीजें देगा ?

ये बातें हमारे बचपनमें असम्भव थीं। मेरा मतलब यह नहीं कि ऐसी घटनाएँ होती न थीं, होती थीं परंतु यदा-

कदा, मानव-स्वभावके अपवादरूपमें और सामाजिक वातावरण ऐसा था—ऐसे नैतिक मूल्यों एवं आदर्शोंमें समाविष्ट करनेवालेको वैसा करना कठिन होता था। वह लोगोंकी दृष्टिसे गिर जाता था। जीवनका आदर्श या मूल्याङ्कन इस बातमें न था कि आदमी क्या कमाता है, बल्कि इस बातमें था कि आदमी अपनी कमाईमें कितनोंको सम्मिलित करता है। क्षुद्रसे विराट् होनेकी प्राथमिक शिक्षा उसे कुटुम्बमें मिलती थी। कुछ भी अपना नहीं है, जो है सबका है, परिवारके लिये है—फिर परिवार समाजके लिये है, यह थी सद्गृहस्थोंकी सद्वृत्ति। कमाओ पर देनेमें कंजूसी न करो; क्योंकि जो तुम्हारा है, वह तुम्हारा नहीं है, समाजका है, सबका है। हमारे धर्ममें, हमारी अध्यात्मविद्यामें कहा जाता था कि सब कुछ जगत्पतिका है। तुम्हारा नहीं है; कर्तृत्वकी भावनासे, 'अहं' से 'हमारा है' से ऊपर उठो—एक-एक बिंदु, एक-एक इंचपर ऊपर उठो, उठना तो है ही।

इसलिये सक्सेनाकी स्थिति, अवधेशकी स्थिति, लछमिनियाँ-की स्थिति किसी सभ्य घरमें सम्भव न थी। यह सब हमारे संस्कारोंके, मानवताके मूल्योंके बिल्कुल विरुद्ध था। इसीलिये सेवामें भी केवल सहायताकी, देनेकी वृत्ति न थी वरं सहायता करते समय, देते समय भी प्रेरक भावना यह थी कि जिन्हें दिया जा रहा है, जिनकी सेवा की जा रही है, वे सेव्य हैं, पूज्य हैं, उनका अधिकार है। माता-पिता, गुरुजनोंकी सेवा तो होती ही थी। बच्चोंकी देख-रेख भी होती थी; परंतु इससे भी महत्त्वपूर्ण थी यह वृत्ति। इसमें 'अहम्' न था, नम्रता थी। यही थी हमारे निजी जीवनकी प्रेरणा, यही थी हमारे सामाजिक जीवनकी उपलब्धि। मानो प्रतिक्षण हम अपनी लघुताको विराट्में निमग्न करते और स्वयं विराट् होनेके पथमें ऊँचा उठते चले जा रहे हों।

उस युगके सक्सेनाको या अवधेशको या लछमिनियाँको ही, केवल सेवा और पोषण ही न मिलता—वह तो मिलना था ही, वह वातावरण ही कुछ दूसरा था; उसमें जिलानेकी शक्ति थी—वह ऊपर उठानेवाला, मानवको क्षुद्रताके बन्धनोंसे निकालकर उच्चताकी ओर उछाल-उछाल देनेवाला वातावरण। वह लड़खड़ाते पदोंको जीवन-पथपर लाठीकी भाँति या किसी साथीके कंधेकी भाँति थाम लेनेवाला वातावरण; वह हृदयोंकी टूटती आस्थाको शक्ति देनेवाला वातावरण। वह जीवनका फूटता झरना, वह जीना जो दूसरोंको जिलाकर जीता है, वह जीना जो दूसरोंको खिलाकर खाता है, वह जीना जो दूसरोंको उठाकर उठता है। अपने अङ्कमें अनेक जीवनोंको समेटकर चलनेवाले जीवनकी एक पाठशाला। ऐसे थे हमारे गृह!

यहीं थी आदमीके जीवनकी, उसकी सहज मानवीय आस्था-की, उसकी उठानकी जड़ जो आज कट रही है और कटती जा रही है। इसीलिये हमारी लाख-लाख सफलताएँ असफल होती जा रही हैं, इसीलिये हमारे दावे मानव-हृदयको स्फुरणासे भर नहीं पाते, इसीलिये पक्के घर तो बनते जा रहे हैं, किंतु उनका अधिवासी देवता उसकी लड़खड़ाती नींवमें बलि-पशुकी भाँति दबा हुआ चीत्कार कर रहा है। कारखाने खड़े हो रहे हैं—भीमाकार कारखाने, धुवाँ उगलते कारखाने परंतु उनकी चिमनियोंमें हमारी आस्थाएँ और हमारे मूल्य जलकर धुवाँ बनते जा रहे हैं। नहरें बन रही हैं, सड़कें बन रही हैं, रेल-लाइनें बिछ रही हैं, परंतु उनमें प्रेमका जल नहीं बहता, यान्त्रिकताका पानी बहता है; उनपर आदमी नहीं चलते, आदमीका प्रेत चलता है—आविष्ट, प्रेरित, चल रहे नहीं, चलाये जा रहे आदमी, आत्मविस्मृत मानव जिनकी टाँगें केवल इसलिये चलती हैं कि उनको चलना ही है; रेलगाड़ियाँ जिनपर स्वस्थ मानवता नहीं चलती, व्यवसायके छल-छद्म दौड़ते हैं। इन मानवोंकी भीड़में मानवता ही पहिला शिकार है।

हमारे छुटपनमें सक्सेनाकी पत्नी सब कुछ छोड़कर पतिकी सेवामें लग जाती, अवधेशकी पत्नी मनौती मानती, खाना छोड़ देती, प्रभुसे प्रार्थना करती कि भले वह उसका जीवन ले लें किंतु उसके स्वामीको अच्छा कर दें। प्रश्न यह नहीं है कि यह सब बुद्धिसम्मत था या नहीं; मैं केवल मनोवृत्तियों-की, निष्ठाओंकी, आस्थाओं और मानव-मूल्योंकी बात कर रहा हूँ। और यह कल्पनाकी बात नहीं है। वाराणसीके उदारमना नेता स्व० शिवप्रसाद गुप्त जब मरणासन्न थे, तब उनकी पत्नीने ऐसा ही किया था। सांघातिकरूपसे बीमार पतिको नीरोग करनेके लिये पत्नीने नियमानुकूल पुरश्चरण कराके उनको अच्छा किया और स्वयं इस लोकसे चली गयीं। पति-को इस बलिदानकी प्रक्रियाका ज्ञानतक जीतेजी उन्होंने नहीं होने दिया। खैर, वह तो थे बड़े आदमी, अखबार और प्रेसके स्वामी। उनकी बातका पता लग गया। परंतु आज भी कितने घर ऐसे हैं जिनमें वही अतीत वर्तमान है—कालको चुनौती देनेवाली आस्थाओंका अतीत मृत्युकी छातीपर

चढ़कर उसके जबड़ोंसे पतिको छीन लानेवाली सतियाँ आज भी पूर्णतः लुप्त नहीं हुई हैं। शेखर जब उस साल बीमार पड़ा था और डाक्टरोंने बिल्कुल जवाब दे दिया, पैसा भी न रह गया तब मैंने देखा उसकी पत्नीका दैवीरूप। उसने गहने बेंचे, कीमती कपड़े बेंचे, फिर दूसरोंका काम-धाम घरसे करते-करते हुए पतिकी सार-सँभार की और जब अवस्था बिगड़ गयी वह केवल भगवान्‌का चरणामृत ग्रहण करती; खाना-पीना सब उसने छोड़ दिया—रात-दिन एक कर दिया। खाना छूटा, सोना छूटा, घर-गृहस्थी छूटी; बस, भगवान्‌में उसने अपनी आस गड़ा दी। एक बार ग्यारह दिन निराहार रही और अन्तमें मृत्युके द्वारसे पतिको लौटा लानेमें सफल हुई।

इस तरहकी घटनाएँ अनहोनी नहीं, हममेंसे प्रायः सभीको इक्के-दुक्के ऐसे दृश्य आज भी दीख जाते हैं। मृत्यु कोई भयावनी, तिरस्करणीय वस्तु भी नहीं है; इसलिये आदमीका उससे बच जाना कोई बड़ी बात नहीं, पर बचा लेना जरूर बड़ी बात है। प्रभुका आसन भी अपनी निष्ठासे डगमग कर देनेवाली सती पतिकी आत्यन्तिक सेवाके कारण ही महान् नहीं है; वह महान् इसलिये है कि वह उच्चतर मनोभूमिकाओं और श्रेष्ठ संस्कारोंपर खड़ी है—अपनी निष्ठामें शक्तिमयी, चिर मङ्गलकी अधिष्ठात्री और इसी शरीरमें मृत्युको चुनौती देनेवाली नारी!

यथार्थ तो यह है कि पाता है वह नहीं जिसकी सेवा की जाती है, पाता है वह जो सेवा करता है या करती है। यह क्षुद्र 'अहं' में विराट् 'अहं' का जागरण, यह व्यक्तिमें समष्टिका आकलन, यह दानमें ग्रहण, त्यागमें भोग ही हमारी समस्त शक्तिका स्रोत था। यही था हमारे प्राणोंका अमृत जो दुःखमें, सुखमें, निराशामें, आशामें, अन्धकारमें, प्रकाशमें सदा हमें एकरस रखकर बचाता आया है।

सेवामें तन्मयता दूसरोंको जितना देती है उससे अधिक स्वयं भर उठती है। आत्मार्पण, त्याग कभी रिक्त नहीं करता; अननुभूत रससे, आनन्दसे मन-प्राण पूरित कर देता है। हमारे अनेक तरुण मित्र कहते हैं कि जो युग चला गया है, वह अच्छा रहा हो तो, बुरा रहा हो तो, उसकी यादमें आँसू बहानेसे क्या होगा? सचमुच आँसू बहानेसे कुछ नहीं होगा, परंतु मेरा कहना यह है कि जो श्रेय है वह कभी अतीत नहीं होता; जो शिव है वह चुककर भी कभी नहीं चुकता; वह शाश्वत है, वह प्रत्येक युगका है, वह कालके बन्धनसे परे है। तब क्या हम उस बीतते युगके सत्यको केवल इसलिये तिरस्कार करके अपने द्वारसे लौटा देंगे कि आज ऐसा ही चलन है? क्या जो कुछ हमने देखा है, जगत्‌ने देखा है, इतिहासने देखा है, मानव-हृदयकी सुप्त करुणाने देखा है, भक्ति एवं निष्ठाने देखा है—मृत्युके बीच जीवनकी प्रतिष्ठा, मरणमें अमरण, इस भावनाका रास, उसे हम मिट जाने देंगे?—केवल इसलिये कि मरण ही आजका फैशन है, विनाश ही आजका जीवन है, अनास्था ही आजकी आस्था है?

नहीं, यह न होगा, न होगा। इसलिये कि वह असत् है; इसलिये कि वह मानवका 'स्वरूप' नहीं है; इसलिये कि वह अश्रेय है; सबसे बढ़कर इसलिये कि मानव उसमें अपनेको देख नहीं पायेगा। यह सब नहीं होगा; संस्कृतिका दीपक नहीं बुझेगा; शाश्वत आस्थाओंकी ज्योतिशिखा नहीं बुझेगी। वह बुझेगी तो मानव निर्जीव, आत्महीन होकर, केवल पशु होकर रह जायगा। हमारी पीढ़ीके सामने यही संकट है। देशके यौवनको इस चुनौतीका उत्तर देना ही होगा—कटती हुई जड़ें कटने न पायें।

## कुल पवित्र करनेवाले पत्नी-पुत्र

**पति-सेवाको मानती जो सौभाग्य अपार।**
**बनती वह, सब त्याग सुख, पत्नी सेवाधार॥**
**पूजनीय माँ-बापको जान ईश प्रत्यक्ष।**
**सेवारत सुत समझता जीवनका यह लक्ष्य॥**
**होते पत्नी-पुत्र यों सेवक जहाँ अनन्य।**
**वे शुचि घर, वे कुल, धरणि, होते अतिशय धन्य॥**

# आसुरी संस्कृतिका प्रभाव

( लेखक—श्रीआचार्य सर्वे )

आज हम स्वधर्मसे विमुख हो रहे हैं। आसुरी-सम्पदावाले राष्ट्रोंकी चमक-दमकके ( प्रलोभनके ) जालमें किसी अज्ञात भयसे हम जा पड़े हैं। हमारी अपनी संस्कृति, जिसका विकास इस देशकी 'अन्तरात्मा'की छत्र-छायामें हुआ, वह हमें आज फीकी प्रतीत होने लगी है। हमारी संस्कृतिकी अन्यतम उपलब्धियाँ—आत्मा, धर्म, परमात्मा आदि हमें उसी प्रकार कटु लगने लगी हैं; जिस प्रकार ज्वरके रोगीको जलका मधुर एवं प्रशान्तिकारी स्वाद तथा पित्तके रोगीको सदा मीठी मिश्रीका स्वाद भी कड़वा लगने लगता है। हमने यहाँ जो बात कह डाली वह सत्य है, जिन्हें वह कटु प्रतीत हो उन्हें अपनी स्थितिका निरीक्षण कर लेना उचित रहेगा कि कहीं वे ज्वरग्रस्त तो नहीं; क्योंकि वास्तवमें 'सत्य' कटु होता ही नहीं, प्रत्युत लगता है—ऐसा हमारी भ्रान्ति अथवा बिगड़े हुए जायकेके कारण होता है, इसमें संदेह नहीं!

गीता-शास्त्रका स्पष्ट निर्देश है—

**असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।**
**अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥**

( १६।८ )

अर्थात् आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य इस जगत्‌को असत्य कहते हैं ( अर्थात् परलोक-कर्मफल आदि कुछ नहीं मानते ), वे ईश्वरकी परिकल्पनाको भी सत्य नहीं मानते और वे यह सब कुछ जो दिखलायी पड़ रहा है इसे केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ मानते हैं। भोगकी उत्पत्ति होनेके कारण इस जगत्‌में वे भोगोंके अतिरिक्त और किसी ( उन्नत तत्त्व अथवा ) प्रयोजनको स्वीकार नहीं करते।

( यही आसुरी स्वभाव है कि ) वे केवल रोटी, कपड़ा, निवास और सेक्सको शास्त्र-विरुद्ध येनकेनप्रकारेण हस्तगत ( प्राप्त ) कर लेना ही इस महान् मानव-जीवनका लक्ष्य मानते हैं ( अन्यायेनार्थसंचयान् )। इसके लिये विधि-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदिकी आवश्यकता या उपयोगिता वे स्वीकार नहीं करते। अपने भोगोंकी पूर्तिके हेतु एवं उन्हें उचित सिद्ध करनेकी दिशामें वे अपनी प्रतिभा, बल, पद, धन एवं ख्याति आदिका दुरुपयोग करते हैं। इतना ही नहीं; नये-नये मनमाने शास्त्र गढ़कर लोकको भ्रममें डालते हैं।

इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें शास्त्रद्वारा नियत किये हुए कर्म ( स्वधर्म ) को शास्त्रविधिपूर्वक ही आचरण करनेका स्पष्ट संदेश देते हुए योगिराजराजेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने परम भक्त एवं सखा वीरवर अर्जुनका मोहान्धकार अपहरण करते हुए कहते हैं—

**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥**

( १६।२४ )

हम समझते हैं कि आसुरी सम्पदाको सींचनेवाले आसुरी-विज्ञानके बढ़ते हुए संहारात्मक चरणोंको दृष्टिगत करते हुए आज इस १६वें अध्यायका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इसमें दैवी और आसुरी सम्पदाका विश्लेषण इतने स्पष्ट एवं समर्थ शब्दोंमें किया गया है कि जिसे देखकर आश्चर्य होता है।

इसी अध्यायमें आसुरी स्वभाववाले मनुष्यकी धारणाका चित्र खींचते हुए भगवान् कहते हैं—

**इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।**
**इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥**

( १६।१३ )

अर्थात् वे आसुरी कर्ममें डूबे हुए व्यक्ति निरन्तर ( इसी भौतिक सुखोपभोगमें लीन रहते हुए ) यही सोचा करते हैं कि आज यह तो सुखसाधन हमने प्राप्त कर लिया है ( मकान, प्रेस, मिल, जायदाद, संतान, मोटर, पद, अधिकार वगैरह ) और यह मनोरथ प्राप्त करना बाकी है। उसे भी कर लेंगे।' इस प्रकार, आशाके सैकड़ों पाश उन्हें बाँधे रहते हैं। काम, क्रोध और लोभके अतिरिक्त उन्हें और कोई मार्ग सूझता ही नहीं। इन्हींकी पूर्तिके साधनोंमें वे क्षणभङ्गुर जीवनको खो डालते हैं। परोपकार, ब्रह्मचर्य, त्याग, भक्ति, ज्ञान, दया, अहिंसा, अदोषदर्शन, दान, क्षमा, विनय प्रभृति उत्तम गुणोंके संचय एवं प्रवर्त्तनके स्थानमें वे अर्थ-पिशाच बने हुए मूर्ख केवल अर्थ-संचय एवं अर्थप्रवर्त्तनमें ही नहीं, पापोंका ढेर बटोरकर ही सारी आयु शेषकर खाली हाथ लौट जाते हैं, जिसका बुरा फल उन्हें बार-बार आसुरी योनि तथा अधमगति प्राप्त करके भोगना पड़ता है।

**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।**
**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥**

( गीता १६।२० )

उनके पीछे केवल उनका दुर्भाग्य एवं अधर्माचरण ही लगा रहता है । यह शोचनीय स्थिति आसुरी प्रभावकी द्योतक है । इससे छुटकारा पानेका उत्तम उपाय हमारे शास्त्रोंमें मिलता है । इसीलिये इस अध्यायमें शास्त्रको प्रमाण मानते हुए तदनुकूल आचरणपर अनेक प्रकारसे बल दिया गया है । इन उत्तम शास्त्रोंमें वेद, पुराण, उपनिषद् एवं इनके आधारपर ( समय-समयपर ) लिखे गये सद्ग्रन्थोंकी गणना की जा सकती है । इन शास्त्रोंका पठन-पाठन न हो सके तो इन शास्त्रोंको जाननेवाले अधिकारी विद्वानों, साधु-संतों, मनीषियोंकी नियमित सत्संगतिद्वारा लाभ उठाया जा सकेगा । यह भी न सध पावे तो भगवान्‌को आर्त्तस्वरमें पुकारनेसे अथवा लोकमर्यादाओंका धीरतापूर्वक पालन किये जानेसे भी हित सध सकेगा ।

हमारी संस्कृतिकी अनेक गुणोपलब्धियों—त्याग, सेवा, संयम, विनय, धैर्य आदिसे लाभ उठाया जा सकेगा । ये उपलब्धियाँ अपने आपमें एक महान् शास्त्र ही हैं, जैसे—ब्रह्मचर्य, सेवा, त्याग आदि एक-एक पूरा शास्त्र ही हैं; जो एक दूसरेसे पूरी तरह जुड़े भी हैं, एककी सिद्धिसे दूसरेकी सिद्धि सुकर हो जाती है । इनमेंसे किसी एक तत्त्वको ही दृढ़तापूर्वक ( भली प्रकार ) दूरतक समझ-बूझकर एवं ( विषयोंसे वैराग्यपूर्वक ) अपनाकर चमत्कार देखिये कि कितना आनन्द, शान्ति, स्वास्थ्य, तेज, बल, आयुष्य, यश, कान्ति आदिका विकास होता है । इन आश्चर्यकारक रत्नोंकी व्याख्या कि 'ये क्या हैं, एवं इन्हें जीवनमें कैसे-कैसे उतारा जा सकता है' इसके लिये ( शास्त्रविधिपूर्वक उन्नत जीवनवाले ) महात्माओंकी चरणसेवाके अतिरिक्त कोई दूसरा उत्तम मार्ग हमारे अनुभवमें नहीं आ सका है । शास्त्रोंके स्वाध्यायका तो क्रमशः हमारी अपनी लगन, संस्कारिता, निष्ठा, सुपात्रता एवं धीरज आदिके कारण उत्तम प्रभाव तो पड़ता ही है—आत्मनिरीक्षण, आत्ममनन आदिका भी अभ्यास होता है । सत्संगका प्रभाव 'स्वाध्याय'से कहीं अधिक स्पष्ट एवं शीघ्र होता है—ऐसी हमारी विनम्र मान्यता है । यों किसी उत्तम शास्त्रकी प्रतिदिन शुद्धतापूर्वक पूरे मनसे संगतिका फल भी 'सत्संग-'जैसा ही होता है । सच्छास्त्र तो हमारी संस्कृतिकी आँखें हैं ।

हमारी संस्कृतिमें जब इतने ऐश्वर्य, श्री, कल्याण, आनन्द, शान्ति आदि भरे पड़े हैं तब दूसरे राष्ट्रोंकी भौतिक अथवा आसुरीसम्पदाके प्रति काम, क्रोध अथवा लोभका शिकार होनेकी भूल हम क्यों कर रहे हैं ?—यह एक प्रश्न आज हमारे समक्ष है । इसकी उपेक्षा करना जीवनकी उपेक्षा करना है तथा अन्धकार, अविद्या एवं मृत्युको आमन्त्रित करना है ।

आइये, हम स्वधर्मपालनपूर्वक अपनी संस्कृतिमें निष्ठावान् बने रहें !

# आजका असुर-मानव

दंभ-मान-मदयुक्त, भरी मन अमित कामनाएँ दुष्पूर ।
असत् विचार-युक्त जीवनमें भ्रष्टाचार भरा भरपूर ॥

चिन्ता अमित श्वास अन्तिम तक देती नित रहती संताप ।
ध्येय एक ही है जीवनका, बस कामोपभोग बेमाप ॥
बँधे सैकड़ों आशाओंके कठिन पाशसे भोगासक्त ।
काम-क्रोध-परायण नित अन्यायोपार्जनमें आसक्त ॥
"आज मिला यह, वह भी पूरा होगा मेरा मन-अभिलाष ।
होगा प्राप्त मुझे फिर भारी धन, पूरेगी सारी आश ॥

बाधक वैरी मार दिया वह, औरोंको भी दूँगा मार ।
ईश्वर, भोगी, सुखी, सफल जीवन मैं हूँ बलका भंडार ॥
हूँ सम्पन्न मान्य जननायक कोई मेरे नहीं समान ।
सेवा दान करूँगा मैं"—यों बकते रहते वे अज्ञान ॥
भ्रमित चित्त वे विविध भाँतिसे, मोहजालसे ढके निगूढ़ ।
परमाऽसक्त कामभोगोंमें, पड़ते अशुचि नरक वे मूढ़ ॥

# हिंदू-सनातनधर्म

( लेखक—श्री एस० एन० मूर्ति )

सृष्टिमें प्रत्येक वस्तुका एक स्वधर्म होता है। प्रायः सारी सृष्टि एक सुनिश्चित और सुव्यवस्थित धर्मके द्वारा परिचालित हो रही है। धर्म है क्या वस्तु ? मानवजीवनके क्रिया-कलापके आधिभौतिक क्षेत्रसे लेकर उसकी इहलोककी अन्तिम आध्यात्मिक स्थितितक सारी परिस्थितियोंमें आकाङ्क्षाओंकी पूर्ण परितृप्ति जिससे हो, वही धर्म है। धर्मका शाब्दिक और व्यावहारिक अर्थ हमारे विचारसे इस प्रकार है—

( १ ) वह मुख्य तत्त्व जो हमको धारण ( धारयत इति धर्मः ) करता है धर्म है।

( २ ) जो हमको धर्ममें स्थित करता है, वह धर्म है।

( ३ ) जो जीवनको सारयुक्त बनाता है, वह धर्म है।

( ४ ) जो आध्यात्मिक जीवन-पथपर प्रकाश डालता है और इस प्रकार भौतिक जीवनके कठिन और कण्टकमय क्षेत्रको पार करनेमें सहायता करता है तथा हमारे जीवनको आध्यात्मिक बनाता है, वह धर्म है।

( ५ ) जो जन्म-मृत्युके चक्रसे हमको छुड़ाता है और मोक्ष या निर्वाण-प्राप्तिके योग्य बनाता है, वह धर्म है।

धर्मका ज्ञान वेदोंसे होता है, अथवा यों कह सकते हैं कि वेद स्वयं धर्ममूलक हैं। जैमिनि ऋषिने अपने मीमांसा-सूत्रोंमें अधिक स्पष्टरूपमें व्यक्त करते हुए कहा है कि **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** अथवा **'वेदा धर्ममूलम्'**। धर्म मोक्ष-प्राप्तिका हेतु है और इहजीवनमें हमको आनन्द तथा चित्तकी शान्ति प्रदान करता है।

उपर्युक्त आध्यात्मिकताके चार प्रमाण हैं—( १ ) वेद, ( २ ) स्मृति, ( ३ ) आचार और ( ४ ) अपने मनका प्रसाद। इन चार प्रमाणोंमें वेद स्वतः प्रमाण हैं। दूसरी स्मृतियाँ ( मनु-याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ) हैं, जिनकी प्रामाणिकता वेदपर आधारित है। वेदोंमें जो धर्मका निर्वचन किया गया है वह विभिन्न स्थलोंमें विभिन्न प्रकारका है और प्राचीन कालके ऋषियोंने विभिन्न देश, काल, पात्र, परिस्थिति, जाति और कर्मके अनुसार उनकी अपनी व्याख्या की है। अतएव उस विभिन्नताको वैदिक उपदेशमें भूलके रूपमें देखना ठीक नहीं है, बल्कि ऐसा समझना चाहिये कि सारे जगत्के लिये अनुकूल बनानेके उद्देश्यसे वे विभिन्न प्रकार हैं। धर्मके विभिन्न उपदेश जो परस्पर विरोधी-से दीख पड़ते हैं, विभिन्न रुचिके साधकोंको लक्ष्यकी ओर ले जानेमें सहायक होते हैं।

हिंदूधर्मकी मुख्य विशेषता यह है कि यह 'सनातन' है, सदासे है और इसकी तुलनामें दूसरे धर्म बहुत आधुनिक हैं। निम्नलिखित सनातन तथ्योंसे यह बात प्रमाणित हो जाती है।

( १ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म ही यह मानता और जानता है कि प्रत्येक सृष्ट वस्तु स्वयं भगवान् हैं, मायाके कारण विभिन्न दीख रही है। मायासे आवृत होनेके कारण वह जीव कहलाता है। अतएव मायाके जालसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित होनेके लिये हमको धर्ममार्गका अनुसरण करना चाहिये।

( २ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म ही यह जानता और मानता है कि ब्रह्म निर्गुण, निर्विकार, निष्क्रिय है और सृष्टिकर्ता भगवान् सगुण आदि हैं।

( ३ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म ही यह मानता-जानता है कि प्रत्येक वस्तु मायिक है, जगत्की कोई पृथक् सत्ता नहीं है और इहलोकके सारे पदार्थ निःसत्त्व हैं। एकमात्र भगवान् ही परम सत्त्व और सत्य हैं। निस्संदेह लौकिक पदार्थोंसे भी कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है; परंतु तभीतक, जबतक भगवदिच्छा ऐसा कराना चाहती है।

( ४ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म यह मानता-जानता है कि मायासे मोह, अहंकार, देहात्मबुद्धि और ममकार उत्पन्न होते हैं। जबतक अहंकार है तबतक संसारबन्धन बना रहता है। अहंकारका नाश करके जीव निर्वाण अर्थात् संसार-बन्धनसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त करता है।

( ५ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म जानता और मानता है कि जीव-देहमें मनुष्यकी बुद्धि भ्रान्त है, वह सत्को असत्-रूपमें देखती है। इस अनर्थकारिणी और भ्रान्त, विपरीत बुद्धिसे मुक्त होनेके लिये हिंदूधर्मके अनुशीलनकी परम आवश्यकता है।

( ६ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म ही मानता-जानता है कि एकमात्र 'दैन्य' ही मोक्षकी कुंजी है।

( ७ ) संसारमें केवल हिंदू-धर्म ही जानता और मानता है कि मुक्तिके लिये गुरुका होना अनिवार्य है, बिना गुरुके मुक्ति सम्भव नहीं। न तो हमारे सारे अनुष्ठान और वाक्, न विभिन्न शास्त्रोंके मननसे ही वह अन्तर्ज्योति दीप्त हो सकेगी जो आध्यात्मिक पथपर हमको सुचारु रूपसे अग्रसर कर सकती है। उस पथको आलोकित करनेके लिये आवश्यक ज्योति गुरुकी कृपा या अनुग्रहसे ही प्राप्त होगी तथा उसीसे हमको भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त होगा।

( ८ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म यह जानता-मानता है कि श्रद्धाके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरुमें श्रद्धा तथा अपने पुरुषार्थमें विश्वास रखना आवश्यक है। श्रद्धा आन्तरिक हो और सब प्रकारके तर्क-वितर्कसे परे हो। कैसी दुःखकी बात है कि आजकल संसारमें सर्वत्र संशयवाद व्याप्त हो रहा है और वह मनुष्यके सारे कार्यक्षेत्रको अन्धकारमय बना रहा है। इन परमावश्यक गुणोंको प्राप्त करनेके लिये वृद्धावस्थाकी प्रतीक्षा करना नितान्त मूढ़ता, अज्ञान और भ्रम है। कोई नहीं जानता कि जीवनका अन्त कब होगा। न कोई यही गारंटी है कि फिर मनुष्यका चोला ही प्राप्त होगा। इसलिये जितना जल्दी चेतें उतना ही अच्छा; अथवा कम-से-कम नहीं चेतनेकी अपेक्षा देरसे चेतना भी अच्छा है; परंतु देर करना भयावह साबित होगा। पानी बह जानेके बाद बाँध बाँधना निष्फल होगा।

( ९ ) संसारमें केवल हिंदूधर्म यह जानता और मानता है कि अधिकार एक ऐसी वस्तु है जो भलेको बुरा और बुरेको भला बनाती है। परस्पर व्यवहार करते समय मनुष्यको अपने अधिकारके अंदर अथवा उसकी सीमाके अंदर रहना चाहिये, जिस अधिकारसे वह विशेषरूपसे अधिकृत हो। प्रत्येक मनुष्यको अपने धर्मपर दृढ़तापूर्वक आरुढ़ रहना चाहिये। पर-धर्मको ग्रहण करके जीनेकी अपेक्षा स्वधर्ममें मरना श्रेयस्कर है।

उपर्युक्त तथ्योंसे हम भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकते हैं कि प्राचीनकालके ऋषियोंके द्वारा व्याख्यात होनेके कारण सनातन हिंदूधर्मके सिद्धान्त केवल सार्वभौम ही नहीं हैं, बल्कि हमारे लिये जीवनमें आचरणीय भी हैं। इस विशाल जगत्में हम कैसे जीवनयापन करें, इसके लिये विधि, नियम और सिद्धान्त हमारे वेदोंमें निहित हैं।

अब हम यह देखें कि वेद और उपनिषदादिमें वे कौनसे-सामान्य सिद्धान्त हमारे लिये हैं, जो मान्य हैं और आचरणीय भी हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं—

१. **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**—सारा जगत् क्षणभङ्गुर है। केवल भगवान् सनातन हैं। वे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, अतएव हमारा कर्तव्य है कि उनमें विश्वास करें और उनकी प्रीतिके लिये शुभकर्म करें।

( २ ) **'मातृदेवो भव'**—अपनी माताकी उसी प्रकार पूजा और प्रार्थना करो जैसे भगवान्‌की करते हो; क्योंकि उसने तुमको अपने गर्भमें रक्खा है, पलनेमें तुमको पाला है, दूध पिलाकर, भोजन खिलाकर और तुम्हारे ऊपर करुणाकी वृष्टि करके, पाल-पोसकर इस विशाल विश्वमें विचरण करनेके लिये छोड़ दिया है।

३–**'पितृदेवो भव'**—अपने पिताकी पूजा—प्रार्थना करो, यश गान करो और कृतज्ञ बनो। जिसने तुम्हारे शैशव और किशोरावस्थामें शिक्षा प्राप्त करनेके योग्य तुम्हें बनाया और इस जगत्में बुद्धिसम्पन्न मानवके रूपमें जीवन-यापनका सुअवसर दिया है।

( ४ ) **आचार्यदेवो भव'**—अपने गुरु महाराजके चरणकमलोंकी पूजा और प्रणति करो। तुहारे माता-पिताने केवल इहलोकमें जीवित रहनेके साध्य और साधनको दिखलाया है, परंतु गुरु तुमको शाश्वत और भगवत्प्राप्तिके मार्गपर ले जायँगे। यदि संसारके, द्वन्द्व और प्रपञ्चसे पूर्ण इस संसारके बन्धनमें जकड़ी हुई अपनी आत्माको मुक्त करनेकी तनिक भी इच्छा है तो तुम्हें अपने गुरुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करना होगा, जो मानव-रूपमें स्वयं भगवान् हैं। आदिशङ्कराचार्यने अपने 'भज गोविन्दं' में यही बात कही है। यथा'—

**'गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः**
**संसारादचिराद् भव मुक्तः'** ॥

( ५ ) **'अतिथिदेवो भव'**—तुम्हारे घर जो अतिथि रूपमें आता है, वह चाहे तुम्हारा सम्बन्धी हो, मित्र हो, साधु हो अथवा शत्रु हो, उसकी पूजा करो, स्तुति करो, आदर-सत्कार करो। मन, कर्म और वाणीसे जहाँतक हो सके कृपालु होकर उसकी सेवा-सहायता करो। इससे तुम्हारे जीवनमें सुख-समृद्धि प्राप्त होगी। इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे प्रेम और दयाके द्वारा तुम्हारा घातक शत्रु भी परमप्रिय मित्र बन जायगा।

(६) **'सत्यं वद'**—सदा सत्य बोलो और प्रिय बचन बोलो। सत्यकी सदा जय होती है और असत्य क्षण-भङ्गुर है। सत्यसे सुख, आनन्द और पुण्यकी प्राप्ति होती है, असत्यसे दुःख, शोक, चिन्ता और पाप पल्ले पड़ते हैं। सत्य स्वर्गमें पहुँचाता है और असत्य चिरकालतक नरक-भोग कराता है।

(७) **'धर्मं चर'**—दीन, जराग्रस्त और अभाव-ग्रस्तकी सहायता करो। सद्व्यवहार और धर्माचरणके द्वारा जो धन अर्जित करो, उसको औरोंमें बाँटकर उसका सदुपयोग करो। श्रीशंकराचार्यका उपदेश है कि **'देयं दीन-जनाय च वित्तम्।'** अर्थात् दीन और अभावग्रस्तको धन देकर सहायता करो। मन, वाणी और कर्मसे किसीका अपकार न करना; कष्ट न देना श्रेयस्कर है।

भगवान् मनुने सबके आचरणके लिये धर्मके दस नियम बताये हैं। जैसे, (१) हरेक स्थितिमें धृति रक्खो—सदा प्रसन्न और आनन्दचित्त रहो, (२) तुम्हें जो हानि पहुँचावे उसकी भी हिंसा न करो, वरं उसका भला करो, (३) मन-को वशमें रक्खो, (४) अनुचित साधनोंसे धनोपार्जन मत करो, दूसरेका हक न लो, (५) सदाचार-सम्पन्न बनो, बाहर-भीतरसे पवित्र रहो, (६) इन्द्रियोंको वशमें रक्खो, (७) शास्त्र-ज्ञानको अनुभवमें लाओ, (८) ब्रह्मकी अनुभूति करो, (९) सदा सत्य बोलो और (१०) बुरा करनेवालेपर भी क्रोध न करो और ईर्ष्याका त्याग करके शान्त बने रहो।

भगवान् मनु हमको आठ तमोगुणोंसे बचकर रहनेका उपदेश देते हैं। जैसे (१) लोभ, (२) आलस्य, (३) भूमि, धन और नारीकी कामना, (४) दूसरोंकी निन्दा करना, (५) नास्तिकता, (६) अनाचार, (७) भिक्षाटन तथा (८) प्रमाद। इन आठ प्रकारके तमोगुणोंसे पृथक् रहनेमें सदा सावधान रहो।

इसके अतिरिक्त मनु भगवान्‌का आदेश है कि (१) शुभ-कर्म करनेमें सदा यत्नशील रहो, (२) चित्तको शान्त रक्खो, (३) सुख-दुःखमें समभाव रक्खो और सहनशील बनो, (४) असत्-सङ्ग और जीवहिंसाका त्याग करो, (५) कामनाका त्याग करो और (६) दीन-दुर्बल, जराग्रस्त और अभावग्रस्तकी सहायता करो।

मनुने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी और नारीजनके पालनके लिये कुछ विशेष धर्मोंका विधान किया है।

**१–ब्रह्मचारीके लिये—**

(१) गुरुकुलमें वास, (२) मन और इन्द्रियोंका संयम, (३) उषःकालमें स्नान, (४) देवर्षि-पितृ-तर्पण, (५) नित्यकर्मानुष्ठान, (६) प्रतिदिन दो बार समिधाधान तथा (७) देवपूजा अपेक्षित है।

२–ब्रह्मचारीके लिये निम्नाङ्कित वस्तुएँ, जो उसके हृदयमें काम-वासनाकी अग्नि दीप्त करती हैं, निषिद्ध हैं। जैसे मधु, मांस, गन्ध, पुष्प, स्वाद, नारी, दूध, मक्खन, घी, जीवहिंसा, तैलाभ्यङ्ग, तिलक, चापल्य, छत्र, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, द्यूत, प्रलाप, निन्दा, मिथ्याभाषण, ईर्ष्या और द्वेष।

३–उसे उन गृहस्थोंके घरसे भिक्षा लेकर जीवन-यापन करना चाहिये जो पूर्णतः गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते हों।

४–ब्रह्मचारीको प्रदोषकालमें कभी सोना नहीं चाहिये।

५–यदि उसे ब्याह करनेकी इच्छा न हो तो कठोरता-पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुकुलवास करना चाहिये।

**२–गृहस्थके लिये—**

(१) ब्रह्मचारीको अपने वर्णकी कन्यासे विवाह करना चाहिये जो सुन्दरी और साध्वी हो।

(२) जिस घरमें नारियाँ वस्त्राभूषणसे सुसज्जित होती हैं, उसपर सब देवता प्रसन्न रहते हैं। जहाँ इस प्रकार स्त्रियाँ आदर नहीं पातीं, उस घरकी सारी क्रियाएँ विफल हो जाती हैं।

(३) पतिको परस्त्री-चिन्तन नहीं करना चाहिये। अपनी प्रियतमा स्त्रीकी सेवाओंसे संतुष्ट रहना चाहिये। इसी प्रकार स्त्रीको चाहिये कि वह पराये पुरुषका चिन्तन न करके अपने पतिके द्वारा प्रदर्शित प्रेम और कृपाभावसे संतुष्ट रहे। इस प्रकार सहयोगके द्वारा दोनों दाम्पत्य जीवनको सुखमय बितावें।

(४) गृहस्थको पञ्चयज्ञ अवश्य करना चाहिये—(१) ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन, (२) पितृयज्ञ अर्थात् तर्पण—श्राद्धादि करना, (३) देवयज्ञ अर्थात् देवताओंके प्रीत्यर्थ होम करना, (४) भूतयज्ञ अर्थात् वायस आदि क्षुद्र जीवोंको बलि प्रदान करना और (५) मनुष्ययज्ञ, अर्थात् अतिथिको भोजन देना।

(५) गार्हस्थ्य-धर्म बहुत श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि गृहस्थ शेष तीनों आश्रमवालोंका पालन और सेवा करता है।

(६) उसे अपने घरमें भोजन बनाकर भगवान्‌को निवेदन करके खाना चाहिये।

( ७ ) अमावास्याको तर्पण, नित्यकर्मोंका अनुष्ठान और श्राद्धादि कर्म उसे नियमित रूपसे करना चाहिये।

**३–वानप्रस्थके लिये—**

( १ ) जब गृहस्थ वृद्धावस्थाको प्राप्त हो और उसके केश पक जायँ और पौत्रादि हो जायँ तो उसे वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिये।

( २ ) वह अपने स्त्री-पुत्रको छोड़कर वनमें चला जाय, अथवा पत्नी यदि साथ जाना चाहे तो उसको भी साथ ले ले।

( ३ ) वह मृगचर्म या वल्कल धारण करे। वह फल-मूल, शाक, धान्यादि भोजन करे।

( ४ ) वह अपने नख और बालोंको न कटाये।

( ५ ) वह दिनमें तीन बार स्नान करे।

( ६ ) वह अग्निहोत्र करे, देव-ऋण-पितृ-तर्पण करे, उपवास करे, वेद-उपनिषद्का स्वाध्याय करे और ब्रह्म-चिन्तन करे।

**४–संन्यासीके लिये—**

( १ ) संन्यासाश्रम ग्रहण करनेवालेके लिये केवल एक कमण्डलु, एक दण्ड और एक पवित्र वस्त्र रखनेका विधान है।

( २ ) विषय-वासना त्याग करके उसे मौन-व्रत धारण करना चाहिये।

( ३ ) उसे चाहिये कि धन, भूमि और कामिनीकी कामना छोड़कर, रोगनिवारणके लिये दवा-दारूका त्याग कर, स्थिरचित्त होकर गाँव-गाँव भिक्षा ग्रहण करते और ब्रह्मचिन्तन करते हुए गृह-त्यागी हो करके संसारमें विचरण करे।

( ४ ) जो शत्रु-मित्रमें भेदभाव नहीं रखता, सबपर समदृष्टि रखता है, सदा सत्य बोलता है, दूसरोंके द्वारा किये जानेवाले निन्दा और अपवादको सहन करता है, इस भौतिक शरीरके हेतु किसीके प्रति द्वेषभाव नहीं रखता, मनसे अपमानका भाव दूर कर देता है, सांसारिक कर्मों अथवा धर्म-अर्थ-कामसम्बन्धी विषयोंमें आलाप नहीं करता, वही पूर्ण और यथार्थ संत है।

( ५ ) वही सच्चा संत है जो मोक्षकामी होकर जगत्में विचरण करता है, जो विषयोंकी कामना नहीं करता और दण्ड-काषाय वस्त्रमें भी जिसे अनुराग नहीं होता।

( ६ ) वह शास्त्र, ज्यौतिष, तर्क आदिका ज्ञान प्रदान करके भिक्षार्जन नहीं करता।

( ७ ) वह काषायवस्त्र और मृत्पात्रका उपयोग करता है। मन, कर्म और वाणीसे किसी जीवको नहीं सताता, अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, कहीं घर नहीं बनाता और भूतलपर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर विचरण करता रहता है।

( ८ ) उसे भिक्षा प्राप्त होनेपर न हर्ष करना चाहिये और न अप्राप्त होनेपर विषाद।

( ९ ) सांसारिक जीवनकी क्षणभङ्गुरता और मिथ्यात्वका निश्चय करना चाहिये और इसपर सदा उसे ध्यान रखना चाहिये। आजीवन प्राप्त होनेवाले दुःखों, जरा और रोगादिको ध्यानमें रखना चाहिये। वह प्राणायामके द्वारा इन्द्रिय-दोषोंका नाश करे, परमात्माका ध्यान करके प्रारब्ध कर्मोंका नाश करे, इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा विषयवासनाको नष्ट करे तथा ब्रह्मचिन्तनके द्वारा काम-क्रोधादिका नाश करे।

अन्तमें मनु भगवान् स्त्री-जातिके लिये विधान बनाने और विशेष आदेश देनेसे विरत नहीं होते हैं।

**५–स्त्रियोंके लिये—**

( १ ) स्त्रीके लिये संतान उत्पादन करना तथा उसका पालन-पोषण करना अपेक्षणीय है। ( २ ) स्त्री घरपर आये अतिथि-अभ्यागतकी सेवा प्रसन्न-चित्तसे करे। ( ३ ) अपने पतिके विचारों और अभिलाषाओंकी उपेक्षा या विरोध न करते हुए जीवन-यापन करे। ( ४ ) अपने पतिके सुख-दुःखमें हिस्सा बँटावे। ( ५ ) अपने पतिके साथ रहकर पवित्र और सदाचारमय जीवन बितावे।

( २ ) पतिके द्वारा त्यक्त होनेपर भी नारी सतीत्वको न छोड़े।

( ३ ) पति जुआड़ी हो, शराबी हो अथवा असाध्य रोगसे ग्रस्त हो तो भी नारीको चाहिये कि वह अभिमान और गर्वके वशीभूत हो उसको न छोड़े और उसकी सेवासे विमुख न हो।

( ४ ) यदि पत्नी ( १ ) मद्यपान करती है, ( २ ) मन, वाणी और कर्मसे दुष्टा है, ( ३ ) अपने पतिका अपकार करती है, तो पतिको अधिकार है कि उस पत्नीके भरण-पोषणका पर्याप्त प्रबन्ध करके दूसरा विवाह करे।

( ५ ) जो मनुष्य अपनी पत्नीके रहते हुए अज्ञानवश दूसरी स्त्रीसे अपने जीवनमें सहयोग लेता है, वह ब्राह्मण होते हुए चाण्डालके समान है।

( ६ ) पिता कन्या-अवस्थामें ही अपनी पुत्रीका विवाह सुयोग्य वरसे कर दे, जो गोत्र और आचारमें श्रेष्ठ हो और अपने ही वर्णका हो।

( ७ ) युवावस्था प्राप्त होनेपर भी ऐसी अवस्था आ सकती है कि नारीको जीवनभर कुँवारी रहना पड़े, ऐसी दशामें उसे ऐसे आदमीका संग न करना चाहिये जो कर्म और आचारसे भ्रष्ट हो।

( ८ ) कुँवारी कन्याको रजस्वला होनेके बाद तीन वर्षके भीतर पिताकी सहायतासे विवाहकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। उसके बाद उसे अधिकार है कि वह अपनी पसंदके अनुसार सुयोग्य वर ढूँढ़कर उससे ब्याह कर ले।

( ९ ) जीवनभर पति-पत्नीको निरन्तर धर्माचरण करते हुए पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिये।

भारतका गौरव मुख्यतः सनातन धर्मको लेकर है। प्राचीन कालके भारतवासियोंके जीवनका लक्ष्य था—सादा जीवन और उच्च विचार। अपने धार्मिक सिद्धान्तके अनुसार दृढ़तापूर्वक आचरण करते हुए वे अपने जीवनका निर्माण करते थे। हिंदू ( सनातन ) धर्मकी ही उनके जीवनमें मुख्यता थी। वे बाह्य ऐन्द्रिय जगत्को मिथ्या, भ्रमपूर्ण और असार समझते थे तथा मनुष्यकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रकृतिके अन्तर्जगत्के अनुसंधानमें लगे रहते थे। भारतने गौतम, कपिल, व्यास, शंकराचार्य और जैमिनि-जैसे महापुरुषोंको पैदा किया, जिन्होंने निरन्तर विचारोंके ताने-बानेमें रत रहकर अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिक भावोंके विभिन्न रंग-बिरंगे वस्त्र तैयार कर दिये। जिन्होंने क्षणभङ्गुर और मोहग्रस्त मानव-जातिके लिये निर्वाण और कल्याणमय तथा शान्तिमय अमर जीवनमें प्रवेश करनेका राजमार्ग खोल दिया।

मेरी यह हार्दिक प्रार्थना है कि हिंदुत्व और हिंदूधर्मको केवल वार्तालापका विषय न बनाकर आप अपने आचरणमें लाइये।

भगवान्पर विश्वास करके सत्यका पालन कीजिये।

**लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।**

( दूथ )

# साधन-सिद्धि

**[ कहानी ]**

( लेखक—श्री'चक्र' )

**साधन सिद्धि राम पद नेहू।**

'आपकी उपस्थिति भी यदि प्राणियोंको अभय न दे सके, किसकी शरणमें जायँ हम अशिक्षित, उपेक्षित, असहाय प्राणी!' कई ग्रामोंके प्रमुख एकत्र होकर आये थे। उनमें जो सबको लेकर आये थे, वे प्रार्थना कर रहे थे।

राजधानीसे दूर, घोर वनसे लगभग घिरे हुए जो थोड़े-से ग्राम यहाँ वनवासियोंके हैं, उनमें कुछ गिने-चुने लोग सुसंस्कृत भी हैं; क्योंकि कश्मीरके विरक्त विद्वान् ब्राह्मणोंका परिवार इन ग्रामोंमें एक लम्बी अवधिसे रहता आया है! उनके सम्पर्कने विद्या-व्यसन दिया है। अब उन लोगोंमें अनेक बौद्धधर्मावलम्बी हैं।

पता नहीं किसके अपराधसे, किसके अपकर्मका परिणाम है कि एक अश्रुतपूर्व उत्पात इन दिनों यहाँ प्रारम्भ हो गया है। वनका एक शेर आततायी बन गया है। किसी-न-किसीके पापका ही यह परिणाम है। अन्यथा वनपशु तो कभी मानवका शत्रु नहीं रहा इस पवित्र प्रदेशमें। शेर अब इन जनपदों तकमें आने लगा है। वह गोष्ठसे पशु ही नहीं उठा ले जाता—दो-तीन मानवोंका भी आखेट कर चुका है। शासक प्रमत्त नहीं हैं। समाचार पाकर शासकीय अधिकारी तीन बार आ चुके हैं, किंतु शेर बहुत चतुर है। वह या तो मिलता नहीं, अथवा इतना अकल्पित आक्रमण करता है कि आखेटक कुछ नहीं कर पाता। तीन अभियानोंमें चार राजकर्मचारी आहत हो चुके और उनमें एक तो मृत्युका ग्रास बन गया।

'कोई असुर आ गया है इस वनमें।' लोगोंमें अनेक प्रकारकी बातें फैली हैं—'वह प्रेताविष्ट पशु है। उसे कोई मार नहीं सकता।'

जब दूसरा उपाय नहीं दीखा, वनवासी ग्रामोंके लोग एकत्र हुए और उन्होंने महासिद्धकी शरण लेनेका निश्चय किया। बौद्ध महायान मार्गके उन्नायक, चौरासी सिद्धोंमें प्रथम सिद्ध सरहपा ( श्रीनागार्जुन ) इन दिनों कई महीनोंसे अपनी साधनाके लिये समीपके वनमें आ गये थे। वनवासियोंका समुदाय उनके आश्रम पहुँचा।

'महापुरुषोंकी उपस्थिति ही सम्पूर्ण आतङ्कोंको उपशम दे देती है।' आगतोंने प्रार्थना की—'हम आर्त हैं और हमारे अपने उद्योग असफल हो चुके हैं।'

'अच्छा !' अपनी बड़ी-बड़ी पलकें उन परम प्रज्ञावान्, त्रिकालदर्शी, अमितशक्ति महापुरुषने उठायी। 'लगता है कि कन्हको इसका अनुमान हो गया था। वह आ रहा है।'

दृष्टि जिधर उठी थी लोगोंने उस ओर मुड़कर देखा। दूर वृक्षोंके मध्यसे निकलती एक आकृति उन्हें दीख पड़ी। कोई आ रहा था—कोई शेरकी पीठपर बैठा चला आ रहा था। आश्चर्यसे लोग उधर देखने लगे।

चरवाहे बालक जैसे अपने भैंसेकी पीठपर स्वच्छन्द बैठते हैं, शेरकी नंगी पीठपर, एक ही ओर दोनों पैर लटकाये जो अल्हड़, जटाजूटधारी युवक आ रहा था, वह इन ग्रामवासियोंके लिये अपरिचित नहीं है। सबका प्रिय, सबका श्रद्धा-भाजन; किञ्चित् संकोची महासिद्ध सरहपाका प्रिय शिष्य कन्हपा—उसे भला कौन नहीं जानेगा।

'मैं इसे पकड़ लाया हूँ।' थोड़ी दूरपर ही कन्हपा शेरकी पीठसे कूदे और उन्होंने आकर गुरुदेवके सम्मुख भूमिमें मस्तक रखनेके पश्चात् दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'जो दण्ड-विधान श्रीचरण निश्चित करेंगे, यह स्वीकार कर लेगा।'

शेर अब बैठ गया था। वह जैसे मस्तक झुकाये आया था, अब भी वैसे ही मस्तक झुकाये था। एक बड़े आकारके पालतू कुत्ते-जैसा वह शान्त था।

'कन्ह इसको अपना वाहन बना चुका।' महासिद्धने ग्रामवासियोंकी ओर देखा—'अब यह उत्पात तो करनेसे रहा। इसे तो साधकत्व प्राप्त हो गया। वनपशु है—अपने स्वभाव-दोषसे हिंसा की है। आप सब इसे अब क्षमा कर दें, यही उचित होगा।'

दृष्टि फिर शेरपर गयी और वह उठा, धीरे-धीरे चलकर समीप आया और महासिद्धके चरणोंपर सिर रखकर बैठ गया।

'महासिद्धकी जय !' आगतोंने उत्साहपूर्वक जयनाद किया।

× × ×

'महासिद्धकी जय !' 'कन्हपाकी जय !' जनसमूह उमड़ा बढ़ रहा था। लोगोंकी श्रद्धाका आवेग भी एक नदीपूर है, जब वह उमड़ता है, उसपर अंकुश रखना सरल नहीं होता। राजकर्मचारी बड़ी कठिनाईसे भीड़को नियन्त्रित कर रहे हैं।

जनताका यह उत्साह, श्रद्धाका यह आवेश सर्वथा उचित है। महासिद्धके प्रिय शिष्य कन्हपाने उन्हें जीवन-दान दिया है। बहुत नीची है कश्मीर घाटी। पर्वतोंसे घिरी यह एक विशाल झील ही तो थी, जो महर्षि कश्यपकी कृपासे जल निकल जानेके कारण आवासभूमि बन गयी। यों भी इस घाटीमें झीलों, कुण्डों, स्रोतोंकी बहुलता है; किंतु जब कभी बड़ी वर्षा होती है—इस पुराण-वर्णित झीलमें नागने जो जल निकलनेका मार्ग बनाया वह छोटा रह गया है। इसे वर्षा शीघ्र ही झीलका रूप देने लगती है। इस बार तो तीन दिन-रात मेघ खुले ही नहीं थे। लगता था कि घाटीमें प्रलय आ गयी है।

महासिद्ध अपने आश्रममें ध्यानस्थ थे। कुशल यही थी कि वे राजधानीके आश्रममें थे। जब जल आश्रममें प्रवेश करने लगा, सहसा कन्हपा उठ खड़े हुए। अनेक लोगोंका कहना है कि वे शरण लेने आश्रम गये उस समय। वे कहते हैं—'कन्हपाके मुखकी ओर देखना सम्भव नहीं था'। लगता था कि सूर्य ही पृथ्वीपर उतर आया है।'

आश्रमसे बाहर आकर एक दृष्टि उन्होंने मेघोंपर डाली। 'हुं' एक धीमी हुंकार और मेघ तो वायुके झकोरोंमें उड़ते ही चले गये। दो क्षणमें तो सुनहली धूप पूरी घाटीपर चमकने लगी थी।

आकाश खुल गया था; किंतु धरा तो जैसे प्रलय-सागरमें डूबती जा रही हो। जलमें तैरते-डकराते पशु, भवनोंकी छतोंपर टँगे रोते-चिल्लाते शिशु और उनकी माताएँ। फूसके छप्पर, खपरैलें—सबपर लोग घरका सामान लेकर चढ़ गये हैं या चढ़ रहे हैं। नीचे पानीमें कहाँ क्या डूबा है, क्या बह रहा है, कौन गणना करे।

सुना है कि महर्षि अगस्त्यने कभी समुद्र पी लिया था; किंतु देखनेवाले भी कुछ समझ नहीं सके कि इस बार क्या हुआ। कन्हपाने अपनी दाहिनी भुजा उठायी और कुछ संकेत किया—सम्भवतः उनकी अंगुलियोंने कोई मुद्रा बनायी। जल अकस्मात् वाष्प बनकर उड़ता तो बादल या कुहरा उठता। इतना जल किसी मार्गसे बह जाता तो उसमें बहुत प्रबल प्रवाह उमड़ता और कन्हपाने उसे पिया हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं हुआ। हुआ चाहे जो हो, जल बड़ी शीघ्रतासे घटने लगा था।

कन्हपा स्थिर शान्त भुजा उठाये आश्रमके बाहर खड़े रहे और जल घटता गया, घटता चला गया। सायंकालतक

केवल भूमि गीली रह गयी थी। छोटे गड्ढोंतकके जलको पृथ्वीने सोख लिया था उस समयतक, जब कन्हपाने अपनी भुजा नीचे की और आश्रमकी ओर मुड़े।

राजकर्मचारी शीघ्र सावधान हो गये थे। समाचार फैला और जनसमूह श्रद्धाके आवेशमें उमड़ पड़ा। स्वयं कश्मीर-नरेश पधारे महासिद्ध एवं उनके महामहिम शिष्यकी चरण-वन्दना करने। इस जय-घोषके कोलाहलके कारण महासिद्ध समाधिसे उत्थित हो गये थे।

'कन्ह !' रात्रिके द्वितीय प्रहरमें जब जनताका कोलाहल शान्त हो चुका था और आनेवाले लोग लौट चुके थे, महासिद्धने अपने शिष्यको समीप बुलाया और स्थिर दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। 'तुमने कोई अकार्य किया है, ऐसा मैं नहीं कहता; किंतु साधनकी सफलता समष्टिके विधानोंमें परिवर्तन करनेकी शक्ति प्राप्त करना तथा ऐसे हस्तक्षेप करना नहीं है। तुम भटक गये हो अपने मार्गसे।'

कन्हपा—आज पूरा नगर जिन्हें महासिद्धकी दूसरी मूर्ति मान रहा था, वे कन्हपा मस्तक झुकाये अपराधीके समान खड़े थे। नगरके किसी निवासीने दूसरे दिन आश्रममें उन्हें नहीं देखा।

× × ×

'कन्हपा बहुत दुखी हैं।' महासिद्धको उनके शिष्य प्रायः समाचार देते रहते हैं। सब जानते हैं कि सरहपा त्रिकालदर्शी हैं और अपने आश्रितोंकी वे कभी उपेक्षा नहीं करते। उन्हें समाचार देना अनावश्यक है। लेकिन कन्हपाके प्रति जो सहज अनुराग उनके गुरुभाइयोंमें है, उससे सब विवश हैं। उनमें कई यात्रा करके महीने-डेढ़-महीने दुर्गम पर्वतीय पथमें चलकर कन्हपासे मिलने गये हैं। 'वे ध्यान नहीं कर पाते। समाधिमें उनकी स्थिति अब नहीं होती। वे प्रायः रुदन करते रहते हैं।'

महासिद्ध, पता नहीं, कन्हपाके प्रति क्यों इतने निष्करुण हो गये हैं। अपने सर्वप्रिय शिष्यके प्रति उनमें करुणा क्यों नहीं जागती ? वे संकल्प करें—एक पामर प्राणीको भी वे समाधिमें बैठा देनेमें सहज समर्थ हैं। कन्हपा तो उनके योग्यतम अधिकारी शिष्य हैं। लेकिन कन्हपाका नाम आनेपर महासिद्ध केवल मुसकरा करके रह जाते हैं।

'वह अपने कुलका नहीं है।' उस दिन महासिद्धने शिष्योंके आग्रहपर सहसा कह दिया और सब चौंक उठे। इस ओर महासिद्धका ध्यान नहीं था। वे कह रहे थे—'वह जहाँका है, पहुँच गया वहाँ। धन्य हो गया वह।'

'कन्हपा अपने कुलके नहीं हैं ?' शिष्य कुछ समझ नहीं सके। महापुरुषोंमें संकीर्णता, पक्षपात और अहंता-ममताका आग्रह नहीं होता। महासिद्ध अनेक बार अपने समीप आये साधनोत्सुक, विरक्त, संयमीको भी कह देते हैं—'भाई, तुम अधिकारी तो हो; किंतु इस कुलके नहीं हो। तुम जिस घरके हो, वहाँ जानेसे तुम्हारी उन्नति शीघ्र होगी।'

प्रायः महासिद्ध ऐसे साधकको बतला देते हैं कि उसे कहाँ किस महापुरुषके समीप जाना चाहिये। यह बात उनके शरणागत साधक समझते हैं। लेकिन महासिद्धके शरणागतोंमें जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जो योगसिद्ध हैं, वे कन्हपा ही इस कुलके नहीं हैं, यह बात क्या समझमें आने योग्य है ?

यह उलझन बहुत समयतक चली नहीं। दूसरे ही दिन कन्हपाने आश्रममें प्रवेश किया। इतना विवर्ण मुख, पीत एवं शुष्क देह, बिखरी जटाएँ—कन्हपाके गुरुभाई ही नहीं, दूसरे लोग भी उन्हें देखकर आश्चर्यमें पड़ गये। कौन-सा रोग, कौन-सा शोक है जो इस तेजस्वी योगसिद्धको भी इस दशामें पहुँचा सकता है ?

'देव ! दया !' आर्तनाद करते महासिद्धके चरणोंमें कन्हपा गिरे थे और बच्चेके समान क्रन्दन कर रहे थे। उन्होंने दूसरोंकी ओर देखा तक नहीं था।

'वत्स !' महासिद्धका गद्गद स्वर आज ही सुनायी पड़ा था। उनके कर अपने प्रिय शिष्यकी जटाओं और पीठपर फिर रहे थे। वात्सल्य उमड़ पड़ा था आज सरहपाके नेत्रोंमें।

'मुझे क्या हो गया है ? मैं क्यों स्थिर बैठ नहीं पाता ? तथागतकी श्रीमूर्ति क्यों मेरे चित्तमें प्रकट नहीं होती ? मैंने क्या अपराध किया है ? किया भी है तो उसका परिमार्जन क्या आप भी नहीं करेंगे ?' शब्द अस्पष्ट, गद्गद वाणीमें, हिचक-हिचककर बोले जा रहे थे—'यह नवघन सुन्दर कौन है जो भीतर और बाहर सदा मुसकराता दीखता है ? मुझे समाधि नहीं चाहिये ! निर्वाण मेरा इष्ट नहीं रहा; किंतु इस पीतवसनके बिना मैं मर जाऊँगा। यह मिलकर भी नहीं मिलता लगनेवाला, यह नित्य सम्मुख होकर भी अदृश्य अप्राप्य—यह मेरे मनको—प्राणोंको मथ रहा है। इसे मैं

कैसे पाऊँ ? आप इतनी कृपा क्या मुझपर नहीं करेंगे ? आप सर्वसमर्थ हैं……।'

'मैं जो कर सकता था, मैंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया वत्स !' महासिद्ध भी भर्राये कण्ठसे बोले—'साधना जितना विशुद्ध तुम्हें कर सकती थी, कर चुकी। सफल हुई तुम्हारी साधना और तुम्हारी शिष्यताने मुझे गौरवान्वित किया। साधनकी सिद्धि है सहज प्रेमकी उपलब्धि।'

'तुम जिसके हो, उसने तुम्हें अपना लिया है।' कुछ क्षण रुककर स्थिरकण्ठ महासिद्ध बोले—'इसमें व्यथित होनेकी कोई बात नहीं है। तुम इस कुलके नहीं हो, यह मैं प्रारम्भसे जानता हूँ; किंतु अन्तःकी शुद्धिके लिये तुम्हें हमारे साधन-मार्गसे जाना था। लक्ष्यपर जाकर मार्ग छूटनेकी चिन्ता नहीं पाली जाती। मैं प्रसन्नतापूर्वक आज तुम्हें विदा करनेको उत्सुक हूँ।'

× × ×

उन दिनों व्रजभूमिमें नगर नहीं थे। जहाँ-तहाँ छोटे ग्राम और वन। कहते हैं कि उन वनोंमें बहुत कालतक एक जटाधारी तेजस्वी घूमता देखा जाता था। कभी ग्वारियोंसे रोटी-छाछ वह अवश्य ले लेता था, परंतु किसीके घर भिक्षा करते उसे किसीने नहीं देखा। जैसे यह पता नहीं कि वह कब कहाँसे आया, वैसे ही वह एकाएक अदृश्य भी हो गया।

# कामके पत्र

## ( १ )

## प्रेमके साधन

प्रिय भाई !……सप्रेम हरिस्मरण ×××

प्रेम बहुत ही पवित्र और दिव्य वस्तु है, उसकी प्राप्ति केवल बातोंसे, पुस्तकोंसे या व्याख्यानोंसे नहीं हो सकती। स्वयं गोपियोंको कात्यायनी-व्रतके द्वारा उपासना करनी पड़ी। पवित्र गोपीभावकी प्राप्तिके लिये बड़े-बड़े मुनियोंने कल्पोंतक तपस्याएँ कीं। भगवान्‌के सखा अर्जुन और देवर्षि नारदको भी गोपी-प्रेमका थोड़ा-सा अनुभव प्राप्त करनेके लिये कठिन साधनाएँ करनी पड़ीं। ऐसी अवस्थामें हमलोगोंके लिये, जिनका हृदय विषय-वासनाओंकी गंदगीसे भरा है, भोग-कामनाके ज्वरसे संतप्त है, जिसमें किसी साधनकी, जप-तपकी कोई पूँजी नहीं—केवल बातोंसे भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेना और गोपी-भावमें स्थित हो जाना—इस प्रकार सोचना भी विडम्बनामात्र है। होता यही है कि प्रेम तो आकाश-कुसुमके समान अप्राप्त ही रह जाता है तथा प्रेमके नामपर साधनहीनता और उच्छृंखलता आ जाती है एवं जहाँ गोपियोंके लिये पवित्र प्रेमका नाम 'काम' है, वहाँ हमलोगोंके लिये वास्तविक विषय-कामका नाम ही 'प्रेम' बनकर प्रेमको कलङ्कित करता है। अतएव प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची बात करनेमें बुराई न होनेपर भी प्रेमके साधकको ऊँची बातें न करके अपने हृदयको प्रेमके योग्य—प्रेम-भगवान्‌के निवास करने लायक पवित्र और दिव्य बनाना चाहिये। इसके लिये मन, वाणी, शरीर—तीनोंका विनियोग आवश्यक है। वाणीके द्वारा अधिक-से-अधिक भगवान्‌के नामका जप हो, कीर्तन हो, जिससे अत्यावश्यक सांसारिक चर्चाके अतिरिक्त व्यर्थ शब्दोच्चारणके लिये अवकाश ही न मिले। जैसे महात्मा हरिदासजी महाराज दिन-रातमें तीन लाख नाम-कीर्तन स्वरपूर्वक करते थे। मनके द्वारा भगवान्‌के लीला-गुण-धाम-चिन्तनका ही अभ्यास दृढ़तर हो जाय और उसमें ऐसी रुचि उत्पन्न हो जाय जो भगवल्लीलाचिन्तनके अतिरिक्त अन्य प्रापञ्चिक विषयोंको मनमें आने ही न दे और शरीरके द्वारा जो अत्यावश्यक जीवन-निर्वाहके कार्य हों, भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाकी भावनासे उतने ही कार्य किये जायँ। इन कार्योंके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें शरीरका प्रयोग हो ही नहीं। शरीरके द्वारा निरन्तर श्रीविग्रहकी सेवा बनती रहे। यों मन, वाणी, शरीर—तीनों जब भगवान्‌की सेवामें नियुक्त हो

जाते हैं, तब भगवत्कृपासे अन्त:करणकी शुद्धि होती है और भगवान्‌के पवित्र प्रेमको हृदयमें लानेकी योग्यता प्राप्त होती है। प्रेमका परम साधन है—त्याग। जहाँ विषय-वासना तथा कामोपभोगका ही त्याग नहीं—उनमें रुचि, आसक्ति एवं प्रीति सुदृढ़ है, वहाँ पवित्र प्रेमका प्रादुर्भाव कैसे होगा? अतएव जहाँतक बने प्रेमकी केवल बातोंपर जोर न देकर प्रेमके योग्य बननेके साधनपर जोर देना चाहिये और स्वयं वैसा बनकर आदर्श उपस्थित करना चाहिये। वास्तवमें प्रेमका साधक प्रचारक नहीं होता, इसलिये आदर्श उपस्थित करनेकी भी उसे आवश्यकता नहीं। वह तो अपने भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करनेकी लालसासे अन्य सबके सम्पर्कका यथासाध्य परित्याग करके अपने एकमात्र उसी आवश्यक कार्यमें ही सदा लगा रहता है।

अपने-आपको निरन्तर देखते-परखते रहना चाहिये। दूसरे लोग हमको 'प्रेमी' भक्त कहते हैं या 'दुरात्मा'—इसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देना चाहिये। लोग संत, प्रेमी, महात्मा कहें और हमारे मनमें यदि सांसारिक विषयोंका मनोरथ और चिन्तन बना रहे तो हम किसी भी हालतमें 'महात्मा' नहीं हैं। अतएव वाणीके द्वारा परचर्चाका सर्वथा परित्याग करना चाहिये और एक-एक क्षणको भगवान्‌के नाम-जपमें लगानेका सावधानीके साथ प्रयत्न करना चाहिये। मनमें जहाँतक बने, ऐसे ही विषयोंको प्रविष्ट कराना चाहिये जो भगवान्‌की स्मृति जगानेवाले हों। मनको निरन्तर बार-बार प्रयत्न करके भगवान्‌के नाम-गुण-चिन्तनमें ही लगाना चाहिये। शरीरके द्वारा भी, जिन कार्योंके करनेकी हमारे निर्दोष सांसारिक निर्वाहके लिये आवश्यकता न हो, ऐसे कार्योंसे सर्वथा बचाना चाहिये। तुलसीदासजी महाराजके ये वचन याद रखने योग्य हैं—

**जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।**
**सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥**
**जहँ न सुगति सुमति संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।**
**हेतुरहित अनुराग राम पद बढ़ो अनुदिन अधिकाई॥**

× × × ×

**जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥**

भैया, थोड़ा-सा जीवन है। फिर आजकल तो हमलोगोंके शरीर भी रुग्ण रहते हैं। मृत्यु कब दबोच लेगी, कुछ पता नहीं। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र आत्माके कल्याणके लिये या भगवत्-प्रेमकी प्राप्तिके लिये अन्तरके हृदयसे संनद्ध होकर सच्ची साधनामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

शेष भगवत्कृपा।

( २ )

## क्षणभङ्गुर जीवनमें भगवान्‌का स्मरण आवश्यक

सप्रेम हरिस्मरण। ××× मेरे आशीर्वादमें न तो कोई बल है और न आश्रय देनेकी शक्ति। एकमात्र भगवान् ही प्राणिमात्रके सुहृद् हैं और उनकी कृपा ही सबके लिये निर्बाध आश्रय है। मनुष्य आसक्ति-कामनावश नाना प्रकारके ऐसे कर्म कर बैठता है, जिनका फल उसे और भी दु:खमय भोगना पड़ता है। परंतु जबतक भोगोंमें सुखकी आस्था है, तबतक स्वाभाविक ही भोग-अर्जनकी चेष्टा होती है और भोग स्वाभाविक दु:खमय हैं, दु:खयोनि हैं। उनसे सुख कैसे मिलेगा? 'दु:खालयमशाश्वतम्' 'दु:खयोनय:'—ये भगवान्‌के वाक्य हैं। संसारमें काम तो करने ही हैं, पर वे काम होने चाहिये निर्दोष और भगवान्‌की सेवाके भावसे। जब फल तुम्हारे हाथमें नहीं है, तब बुरा काम क्यों किया जाय। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जीवन क्षणभङ्गुर है। पता नहीं, कब यहाँसे चला जायगा। इसलिये उचित तो यह है कि एक-एक क्षण भगवान्‌के स्मरणमें ही लगे।

शेष भगवत्कृपा।

( ३ )

## महँगी एवं पाकिस्तान

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला।

अनाजकी बहुत ही ज्यादा महँगी हो गयी है, इसमें कोई संदेह नहीं । पर इस महँगीके मिटानेके जो उपाय सोचे जा रहे हैं, आपके कथनानुसार वे कहाँतक सफल होंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता । जहाँ-जहाँपर कंट्रोल और प्रतिबन्ध लगता है, वहाँ-वहाँपर विशेष रूपसे महँगाई आती है और माल छिप जाता है। आजके युगमें कहा नहीं जा सकता कि ( व्यापारी हो या अफसर ) कौन कितना ईमानदार है । सरकारी स्तरपर व्यापार करनेकी बात कही जा रही है, इसके सम्बन्धमें भी आपका लिखना ठीक है। जितने भी सरकारी व्यापार होते हैं, उनके संचालक अनुभवी व्यापारी और व्यापारी बुद्धिवाले लोग न होकर अफसर कोटिके लोग होते हैं, जो हर जगह अपने अफसराना ढंगपर ही चलते हैं और यह उनके लिये स्वाभाविक भी है । सरकारी व्यापारका क्या हाल है, इस सम्बन्धमें भी विचार करनेकी आवश्यकता है । अभी-अभी 'करंट'-में विवरण छपा है । वह इस प्रकार है—

स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन सरकारकी ओरसे अनाज-का व्यापार करनेवाली संस्था है । सरकारी हिसाब-परीक्षकने उसके हिसाबके सम्बन्धमें कुछ विवरण दिया है । १९६०-६१ में इसके द्वारा जो अनाज बेचा गया, हिसाब करनेपर उसमें ४५,९७१ टन अनाज घटा । सन् १९६१-६२ में १४,२५५ टन घटा और सन् १९६२-६३ में ५६,३९५ टन घटा । तीन वर्षमें कुल मिलाकर १,१६,६२१ टन अनाज घट गया । ऐसे हजारों टन अनाज कहाँ चला जाता है, कुछ पता नहीं । इतना ही नहीं, रुपयोंका नुकसान भी हुआ है । १९६०-६१ में ९,२५,२९,०००; सन् ६१-६२ में ७,८१,३२,००० और सन् ६२-६३ में १५,२०,८६,००० । यदि सन् १९४३ से १९६३ तकके नुकसानके कुल आँकड़े जोड़े जायँ तो अकेले अनाजके व्यापारमें कारपोरेशनको एक अरब इकतीस करोड़ रुपयेका नुकसान हुआ है । भला कोई व्यापारी ऐसा नुकसान कैसे सह सकता है और यदि व्यापारियोंको इतना नुकसान लगे तो उनके तो दीवाले ही निकल जायँ। ( अखंड आनन्द, मई १९६४ )

अभी हालमें अखबारोंमें आया है कि बम्बईमें जहाजोंसे अनाज समयपर न उतरनेके कारण एक करोड़ रुपये डिमरजके देने पड़े हैं । यदि यह सत्य है तो सरकारके व्यापारकौशलका इससे पता चल जाता है । इधर अनाजकी हाय-हाय मची है, उधर जहाजों-पर लदे अनाजका डिमरज लग रहा है ! वास्तवमें व्यापार व्यापारियोंका काम है, सरकारका नहीं ।

महँगी, भ्रष्टाचार आदि दूर तो तब होंगे जब मनुष्यमें धर्मका भय जगेगा और वह अकेलेमें भी पाप करते डरेगा । फिर अनुचित काम आप ही बंद हो जायँगे । नहीं तो, भयानक दण्डसे एक बार अपराध रुक जायँगे, पर अपराधी मनोवृत्तिका नाश नहीं होगा । अवसर पाकर वह फिर वैसा ही काम करायेगी तथा दण्ड देनेवालोंके प्रति वैर-बुद्धि होनेसे कलह-क्लेशमें वृद्धि होगी । तथापि तात्कालिक उपाय यह है कि गल्लेका अनुचित रूपसे संग्रह और भ्रष्टाचार न हो, इसका ध्यान रखते हुए नियन्त्रण, प्रतिबन्ध, परमिट आदिको उठाकर अन्तःप्रान्तीय उन्मुक्त व्यापारको प्रोत्साहन दिया जाय । मालकी आमदनी खूब रहेगी और व्यापारी एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें स्वच्छन्दतासे माल मँगा-भेज सकेंगे तो सब प्रदेशोंमें मूल्य एक स्तरपर आ जायँगे और व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वितासे महँगी अपने-आप कम हो जायगी तथा सबको गल्ला मिलने लगेगा । स्वर्गीय किदवई महोदयने यही किया था ।

नियन्त्रण, प्रतिबन्ध आदि रखकर केवल सरकारी स्तरपर काम होनेसे तो इसी प्रकारके दुष्परिणाम सामने आयेंगे । इसमें संदेह नहीं कि सरकारकी नीयत अच्छी है और वह महँगी मिटाना चाहती है, पर जिस तरीकेसे महँगी

मिटानेका प्रयत्न किया जा रहा है, वह मेरी समझसे गलत है।

(२) पाकिस्तानके सम्बन्धमें आपका लिखना बिल्कुल ठीक है, परंतु हमारे देशकी जो स्थिति है, उसे देखते कुछ नहीं कहा जा सकता कि भविष्यमें क्या होगा। भारतवर्षमें पाकिस्तानसे आनेवाले मुसल्मानोंकी संख्या ही नहीं बढ़ रही है, यहाँके निवासी भी बड़ी युक्तिके साथ मुसल्मान बनाये जा रहे हैं। लोगोंको पूरी बातोंका पता ही नहीं लगता। अखबारवाले प्रायः छापते ही नहीं। अभी-अभी एक समाचार छपा है, जिसमें कलकत्ता, अलीपुरके असिस्टेण्ट सेशन जजके सामने कलकत्ताके नाखोदा मसजिदके डिप्टी इमाम साहबने यह स्वीकार किया है कि वे गत तीन वर्षोंमें १०,०५० (दस हजार पचास) ऐसे हिंदू युवकों और लड़कियोंका विवाह करवा चुके हैं, जो मुसलिम धर्मको स्वीकार कर चुके थे। ये आँकड़े वास्तवमें चौंकानेवाले हैं।

(अर्गनाइजर दिल्ली, २२ जून, ६४)

हमारा किसी भी धर्मके साथ कोई द्वेष नहीं। हर एक धर्मकी अच्छी बातें आदरणीय हैं, परंतु भारतवर्षमें इस समय क्रिश्चियन और मुसल्मानोंकी संख्या बढ़ानेका राजनीतिक दृष्टिकोणसे जो निन्दनीय प्रयत्न हो रहा है, उसकी तरफ सरकारको, बुद्धिमान् जन-नेताओंको और शान्त-चित्त तथा गम्भीरतासे जनताको भी विचार करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

## दोषोंको जरा भी आश्रय न दें

सम्मान्य महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि जैसे घरमें चोर घुसे हुए हों, बाहरसे उनको सहायता मिलती रहे और घरमें भी उनके अच्छे भोजनादिकी व्यवस्थामें कोई बाधा न हो तो चोरोंकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इसी प्रकार हमारे मनमें विषय-वासना और तज्जनित काम-क्रोधादि चोर बसे हैं। उनकी प्रेरणानुसार ही उनके वशमें हुए हमलोग जो आचरण करते हैं, यह उन्हें भोजन मिलता है और बाहरसे हम इसी प्रकारके विचार और कार्योंमें संलग्न रहते हैं, जिनसे उत्तरोत्तर उनको बाहरकी सहायता भी मिलती रहती है। ऐसी अवस्थामें दोषोंसे मुक्त होकर भगवान्‌के चरणोंमें लगना बड़ा कठिन है। काम-क्रोधादि दोषोंको, अपने मनके दुर्विचारोंको और दूषित क्रियाओंको कभी आश्रय तो देना ही नहीं चाहिये, उनकी उपेक्षा करनी भी बड़ी भयानक है। जरा-सी आग उपेक्षा करनेपर बढ़कर सारे घरको जला देती है, इसी प्रकार थोड़े-से दोष भी जरा-सी उपेक्षा करनेपर बहुत बढ़ जाते हैं और हमारे सारे आध्यात्मिक प्रासादको ध्वंस कर डालते हैं। अपना जरा-सा भी दोष सहना नहीं चाहिये। प्रतिज्ञापूर्वक, भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर उसे तत्काल दूर करना चाहिये। दूसरे क्या करते हैं, दूसरोंमें वे दोष हैं या नहीं। दूसरोंमें हैं तो हममें भी रहें, इस प्रकार दूसरोंको देखना और अपने दोषोंका समर्थन करना स्वयं ही अपने-आपको पतनके गर्तमें गिराना है। अपने जीवनमें कुछ नियम बना लीजिये, जिसमें दोष कम-से-कम आयें। भगवान्‌का भजन-स्मरण नियमित रूपसे कीजिये। भगवान्‌की कृपापर विश्वास कीजिये और सजग रहकर जीवनको भगवान्‌की ओर आगे बढ़ाते रहिये। हमारे यहाँ एक साधक-संघकी योजना है। यद्यपि इस योजनाके अनुसार हमलोग साधक तो नहीं हैं तथापि साधक-संघके नियमोंका पालन करनेसे निश्चित ही लाभ अवश्य होता है। आपको उसकी एक नियमावली भेजी जा रही है। आप उसे देखकर उसके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा कीजिये।

शेष भगवत्कृपा।

# गुरुपूजनका पावन पर्व

( लेखक—श्रीगौरीशंकर गुप्त )

आषाढ़ मासकी पूर्णिमा ही गुरुपूर्णिमा तथा व्यास-पूर्णिमाके रूपमें प्रसिद्ध है। व्यास और गुरु—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। अतः गुरु वा व्यासपूजनमें कोई भेद नहीं माना जाता। प्राचीन युगमें, आधुनिक युगकी भाँति छात्रों वा शिष्योंसे गुरुजन नगद शुल्क नहीं लेते थे। वर्षभरमें केवल एक इसी दिन शिष्य-समुदाय गुरुजनोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन करता था और तदनन्तर नये सत्रका आरम्भ होता था। उस युगमें, इस तिथिको न केवल गुरुजनोंकी, अपितु सभी पूज्य जनोंकी अभ्यर्थना की जाती थी, जिसमें गृहस्थ भी भाग लेते थे। 'गृह कारज नाना जंजाला'में फँसे रहनेके कारण, गृहस्थोंकी सुविधाकी दृष्टिसे यह तिथि निर्धारित की गयी, ऐसा लगता है। यों गुरुजन तथा माता-पिता आदि सदा-सर्वदा ही नित्य पूज्य हैं, वन्द्य हैं; किंतु कुछ कारणोंसे नित्य यह क्रम चल नहीं पाता, इसीलिये आषाढ़ी पूर्णिमा एक निश्चित तिथि चली आ रही है। इसके अतिरिक्त ग्रीष्मावकाशके पश्चात् पुनः अध्ययन आरम्भ करनेके पूर्व, शिष्योंद्वारा गुरुपूजनकी प्रथा या परम्परा तर्कसंगत प्रतीत होती है।

गुरुकी महिमा अनिर्वचनीय है। वे साक्षात् परमेश्वर माने गये हैं। कहा गया है—

**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।**
**गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**

ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन त्रिदेवोंके वे प्रतिरूप वा स्वरूप हैं। श्रीहरि साक्षात् ज्ञान-घन हैं और गुरुका सम्पूर्ण स्वरूप उन्हींमें मिल सकता है। वे केवल गुरु ही नहीं, अपितु जगद्गुरुओंके भी परम गुरु माने गये हैं। अतः उनका पूजन सर्वप्रथम होता है। भगवान् आशुतोष शिव समस्त विद्याओंके आदि गुरु हैं और प्रायः सभी साधन-मार्गोंके उपदेष्टा हैं। यही कारण है कि इस दिन व्यास तथा गुरुके अतिरिक्त श्रीहरि तथा शिवका पूजन सर्वप्रथम होता है। इस अवसरपर शिष्य चाहे कहीं हो, गुरुचरणोंमें उपस्थित होना उसके लिये अनिवार्य है। गुरुके अभावमें तथा उनके देहावसानके बाद उनके उत्तराधिकारी वा गुरुके चित्रका पूजन करनेका विधान है।

गुरुपूजनकी यह परम्परा अति प्राचीन रही है, सनातन है और मनुष्य ही नहीं, अपितु देवगण भी इसका पालन करते रहे हैं। देवताओंने ब्रह्माका, ब्रह्माने नारायणका, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रने गुरु वशिष्ठका, पाण्डवोंने योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका और ऋषियोंने भगवान् वेदव्यासका पूजन किया था। अतः गुरुपूजनका महत्त्व स्पष्ट है और इसमें संदेह नहीं कि सच्चा शिष्य वा भक्त केवल गुरु-कृपासे ही सफल-मनोरथ हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें—ऐसे साधकके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इसी प्रकार गुरु-निन्दक वा गुरुद्रोही अधोगतिको निश्चयेन प्राप्त होता है। ऐसा कहा गया है। स्त्रियोंके वास्तविक गुरु पति ही माने गये हैं। अतः उन्हें कहीं भटकनेकी आवश्यकता नहीं है। साध्वी स्त्रियाँ किसी गुरु आदिके फेरमें पड़ती भी नहीं हैं। पतिके अभावमें वा उनके वियोगके उपरान्त, भगवती पार्वतीके पूजन-अर्चनका उनके लिये विधान है। वे नारीमात्रके लिये आराध्या, पूजनीया तथा गुरु हैं।

इस अवसरपर हमें भगवान् वेदव्यासको भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि वे इस तिथिसे सम्बद्ध हैं। व्यासपूर्णिमा नाम पड़नेका यही कारण है। वर्तमान कालमें उपलब्ध समस्त ज्ञान उन्हींकी देन है। उनका मूल नाम कृष्णद्वैपायन था। वेदोंका व्यास अर्थात् विस्तार करनेके कारण वे वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हो गये। कृष्णद्वैपायन नाम पड़नेका भी कारण है और वह यह कि श्याम वा कृष्ण रंगके द्वीप अर्थात् यमुनातटके निकट उनका जन्म हुआ था। उनकी माता सत्यवती वा मत्स्यगंधा नामसे प्रसिद्ध थीं और उसी जगह निवास करती थीं। वेदव्यासजीके पिता महर्षि पराशर थे। व्यासजी सत्रहवें अवतार माने

जाते हैं। कहते हैं कि आषाढ़ी पूर्णिमाको ही उन्होंने बदरिकाश्रममें अपने शिष्योंको उपदेशामृत पान कराया था।

व्यासजीने वेदोंका विभाग तो किया ही, सुप्रसिद्ध अष्टादश पुराणोंका निर्माण भी किया। मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्म, वामन, वाराह, विष्णु, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड़, कूर्म, स्कन्द तथा शिव—ये अठारह पुराण हैं। उपपुराण भी इतने ही हैं।

वेदव्यासजीने वेदसंहिताका चार भागोंमें विभाजन-कर उनका व्यास किया, विस्तार किया। तत्पश्चात् वेद-भाषाकी क्लिष्टता-निवारणके अभिप्रायसे, उन्होंने पूर्वोक्त अष्टादश पुराणोंकी रचना की। इसके अतिरिक्त 'महाभारत'-सरीखे विश्वविश्रुत ग्रन्थरत्नका उन्होंने निर्माण किया। वेदोंके संग्रह, सम्पादन तथा विभाजन एवं पुराण और महाभारतकी रचनाके अतिरिक्त, भगवान् व्यासने भागवत तथा वेदान्तसूत्रोंकी भी रचना की। उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि तभी अर्पण की जा सकती है, जब हम यह संदेश ग्रहण कर और अपने जीवनमें उतारकर इसे अपना आदर्श बना सकें, लक्ष्य बना सकें—

**अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।**
**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**

और, वस्तुतः परोपकारसे बढ़कर पुण्य और दूसरों-को सताने वा पीड़ा पहुँचानेसे बढ़कर कोई अन्य पाप हो नहीं सकता। सम्पूर्ण व्याससाहित्यका सार इन दो पंक्तियोंमें निहित है। आषाढ़ी पूर्णिमाका यही संदेश है और जैसा कि हमने आरम्भमें कहा, गुरु वा व्यासपूर्णिमा-में कोई भेद नहीं है। अतः इस अवसरसे हमें प्रेरणा लेकर अपने कर्तव्यपथपर अग्रसर होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

# वर्तमान दुःखोंके नाशका उपाय और सच्चा विकास

यह सर्वथा सत्य है कि भारतमें स्वतन्त्रता मिलनेके बाद जनतामें दुःख बढ़ा है। आज अधिकांश लोग बड़े कष्टमें हैं। हमारे माननीय श्रीनन्दाजीने भी इस बातको स्वीकार किया है। पर इस दुःखको जिन उपायोंसे मिटानेकी बात सोची जा रही है, उनसे यह मिटेगा नहीं, वरं बढ़ेगा। दुःखका मूल है—पाप और पापका मूल है भोग-कामना। अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने यह स्पष्ट कहा है कि महाशन और महापाप यह काम ही क्रोध बनता है, यही शत्रु है। आज चारों ओर भोगवादकी चर्चा है। हमारे सारे विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आज भोग-विद्याके प्रचार-प्रसारमें ही संलग्न हैं। जिन विदेशोंको आज हम अपना आदर्श मानने लगे हैं, उनसे भी भोगवाद ही सीखनेको मिलता है। अध्यात्मके लिये वे देश बेचारे भारतकी ओर ताकते हैं, पर दुर्भाग्यवश भारत आज अपनी इस महान् आध्यात्मिक सम्पत्तिकी ओरसे उदासीन होकर भोगके लिये उन देशोंका अन्धा-नुकरण कर रहा है। हमारी सारी-की-सारी विकास-योजनाएँ भोगवादको ही लक्ष्य करके बनती और चलती हैं। अतएव परिणाममें विकास न होकर विनाश ही होता है। भोगवादमें—कामोपभोगमें मनुष्य 'असुर' बन जाता है और उसके जीवनमें तीन चीजें अत्यावश्यक होकर अनिवार्यरूपसे अपना घर कर लेती हैं। ये तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ।

भगवान् कहते हैं—

**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥**

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे आत्माका नाश करनेवाले हैं। अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

अतएव जबतक मनुष्यका लक्ष्य भोग रहेगा, भगवान् नहीं होंगे, तबतक वह कामोपभोगपरायण

मनुष्य इन तीनोंके वशमें होकर पाप करेगा ही । भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार, महँगी आदि दोषोंका कानूनोंसे नाश नहीं होगा । उनका रूप तथा तरीका मात्र बदल जायगा । धार्मिक भावोंकी जागृतिसे जब मनुष्यका मन बदलेगा, तब उसकी पापोंमें सहज घृणा होगी, तब वह अकेलेमें भी पाप नहीं करेगा । भगवान्‌के, धर्मके, परलोकके, राजके और समाजके भयसे मनुष्य पापसे बचता है । आज हमारे मनसे भगवान्, धर्म, परलोक और समाजका भय तो प्रायः निकल-सा गया है या निकलता जा रहा है । राजका—कानूनका भय है, पर वह कोई भय नहीं । कानून बनानेवाले—उन्हें मनवानेवाले और माननेवाले सभी प्रायः भोगवादी हैं । सभीको उच्चस्तरके भोगोंकी आवश्यकता है । अतः वे परस्पर मिल-मिलाकर कानूनसे बचकर अपने काममें सफलता प्राप्त करनेका कोई-न-कोई तरीका निकाल ही लेते हैं । यही आज हो रहा है !

अतएव जीवनमें आवश्यकता है उस धर्मकी जिससे हमारे मनोंमें निषिद्ध कर्मोंके प्रति घृणा उत्पन्न हो, भोगवासना कम-से-कम हो, परहितमें निरत रहना ही जीवनका कर्तव्य माना जाय और भगवत्प्राप्ति ही जीवनका एकमात्र परम तथा चरम लक्ष्य हो । इस प्रकारके धर्मकी जब शिक्षा होगी, तभी ये पाप मिटेंगे और तभी वस्तुतः हमारे दुःख तथा दुःखोंके कारण दूर होंगे । उन्नति, प्रगति और विकासका वास्तविक अर्थ ही है—मनुष्यके चरित्रमें, उसके जीवनमें उच्च सात्त्विक विचार, उच्च सात्त्विक कर्म और उच्च सात्त्विक व्यवहारका तथा भगवान्‌के प्रति रुचिका उदय हो । नहीं तो उन्नति, प्रगति और विकासके नामपर वास्तवमें अवनति, अधोगति और विनाश ही होंगे । पर हमारी विपरीत निर्णय करनेवाली तामस बुद्धि जबतक क्रियाशील है, तबतक तो हम विनाशको ही विकास समझेंगे और उसीकी सिद्धिके लिये सचेष्ट रहेंगे । और उसका फल तो अधोगति होगा ही ।

भगवान् कहते हैं—

**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।**
**सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥**

( श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ३२ )

तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है, इसी प्रकार वह सभी अर्थोंमें ( पापको पुण्य, विनाशको विकास, हानिको लाभ, पतनको उत्थान, चोरीको साधन और असत्यको चातुरी आदि ) विपरीत ही निर्णय देती है, वह तामसी बुद्धि है । और तमसाच्छन्न बुद्धि-वृत्तिवालोंके लिये भगवान् कहते हैं—

**जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥**

( श्रीमद्भगवद्गीता १४ । १८ )

प्रमाद, आलस्य, विपरीताचरण आदि जघन्य वृत्तिमें स्थित तामस लोग अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।

भगवान् हम सबको सद्बुद्धि—सात्त्विक बुद्धि दें, इसके लिये सबको भगवान्‌से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये और गम्भीरताके साथ विचार करके मानव-जीवनके असली उद्देश्य भगवत्प्राप्तिकी ओर ही लगना तथा सबको लगानेका प्रयास करना चाहिये । भगवत्प्राप्तिका प्रयत्न ही साधन है । इस साधनासे सद्भाव तथा साधुभावोंका स्वतः ही प्रादुर्भाव होगा और मानसके शुद्ध होनेपर भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यभिचार, अत्याचार, राग-द्वेष, काम-क्रोध, वैर-विरोध, चोरी-जारी, परस्परके विनाशकी चेष्टा, हिंसा-प्रतिहिंसा, दलबंदी और परस्परविरोधी विभिन्न वाद आदि नष्ट होकर सहज ही सर्वभूतहितकी चेष्टा स्वयमेव होने लगेगी । यही वर्तमान दुःखोंके नाशका अमोघ उपाय है और इसीमें सच्चा विकास है ।

# यान्त्रिक कसाईखाने !

( लेखक—श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए० )

भारत-सरकार अपने देशमें चार स्थानोंपर—जिनमें तीन प्रमुख बंदरगाह कलकत्ता, बम्बई और मद्रास हैं और चौथा है देशकी राजधानी दिल्ली—दो-दो करोड़की लागतसे यान्त्रिक कसाईखाने खोलने जा रही है, जिनमें प्रतिवर्ष एक लाख गोवंश तथा तीन लाख अन्य पशुओंके वधकी व्यवस्था प्रारम्भमें की जायगी। कलकत्तामें दानकुनीके पास कसाईखानेके लिये १०५ एकड़ वह भूमि भी ले ली गयी है, जिसमें बंगालका सर्वश्रेष्ठ चावल पैदा होता है। इसी प्रकार बम्बईमें चेम्बूरके पास देवनारमें और दिल्लीके पास नाँगलोईमें कार्य प्रारम्भ हो रहा है। कुछ क्षेत्रोंमें इस कार्यको घृणित, गर्हित एवं हेय बताकर इसका विरोध भी किया जा रहा है। चूँकि आज हमारे देशमें जनतन्त्र सरकार है इसलिये, और इसलिये भी कि सरकारके प्रमुख अङ्ग प्रायः वे व्यक्ति हैं, जो पराधीनताकालमें हमारे स्वाधीनता-संग्रामके अग्रणी नेता रह चुके हैं, यह विश्वास किया जाता है कि सरकार राष्ट्रहितैषिणी है। ऐसी सरकारके किसी भी काममें रोड़ा अटकाना राष्ट्र-द्रोहकी संज्ञासे अभिहित किया जा सकता है। अतः गणतन्त्रके हर सदस्यको सरकारी योजनासे परिचित होना आवश्यक है।

## यान्त्रिक कसाईखानेकी आवश्यकता क्यों ?

पाँच वर्षसे कुछ अधिक समय हुआ, जब सन् १९५९ में भारत-सरकारके निमन्त्रणपर अमेरिकाकी फोर्ड फाउण्डेसन टीम यहाँकी खाद्य-स्थितिका अध्ययन करने और विषम स्थितिको सुधारनेके उपाय बतानेके लिये आयी, तब कुछ स्थानोंका भ्रमण करनेके पश्चात् अपनी अदूरदर्शिताका परिचय देते हुए ( अथवा पूर्वसे ही किसी सुनियोजित योजनानुसार ) वह इस निष्कर्षपर पहुँची कि भारतमें पशुधन—विशेषरूपसे गोवंश—इतनी अधिक संख्यामें है कि भूमिसे जो कुछ पैदा होता है, वह उन्हींके लिये कम है, मनुष्योंके लिये भोज्य-सामग्री उत्पन्न करनेको भूमि बचती ही नहीं। फिर इसमें भी ५० प्रतिशतके लगभग गोवंश तथा अन्य पशु अनुपयोगी हैं। दूसरे, चूँकि अधिकांश भारतवासी मांसाहारी नहीं हैं, अतः ये पशु किसी लाभके न होकर अपने पालन-पोषणके लिये भार ही हैं। इस स्थितिमें सुधार करनेके लिये उन्होंने दो उपाय निश्चित किये। एक तो यान्त्रिक कसाईखानोंद्वारा बड़े पैमानेपर शीघ्र ही इन पशुओंका वध किया जाय। ( इनका मांस, हड्डी, चमड़ा तथा अन्य अङ्ग विदेशोंको भेजे जायँ। ) दूसरे, जनताके खानेकी आदतोंमें परिवर्तन करके उन्हें मांस खानेका अभ्यस्त बनाया जाय, जिससे भोज्य-सामग्रीकी समस्या दूर हो। अन्धा क्या चाहे, दो आँखें। बिल्लीके भाग्यसे छींका टूटा। हमारे महा-विद्वान् नेताओंने दोनों ही सुझावोंको वेदवाक्यसे भी अधिक प्रामाणिक मानकर अमल करना शुरू कर दिया। पहले सुझावकी पूर्तिके लिये उसने डा० एन० ई० वर्नवर्गको बुलाया। ( आप इन्हें कसाइयोंका सरदार भी कह सकते हैं; क्योंकि ये कतलखाना-विशेषज्ञ कहे जाते हैं। ) और उन्हींके परामर्शसे उक्त कसाईखाने खोलनेकी योजना तैयार कर ली गयी। दूसरे सुझावको क्रियारूपमें परिगत करनेके लिये सरकारने अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही मार्ग अपनाये। विद्यालयमें पढ़नेवाली छात्राओंको गृहविज्ञानकी अनिवार्य परीक्षामें अंडा, मछली, मांस आदि तैयार करना सिखाना और क्रियात्मक परीक्षामें उनसे बनवाना—इसी नीतिका अङ्ग है। शाकाहारी अभिभावकोंका

विरोध अरण्यरुदन बनकर रह गया। पंजाबके स्कूली बच्चोंको और मध्यप्रदेशमें बच्चों तथा स्त्रियोंको मुफ्त अंडे खिलाकर भी खानेकी आदतोंमें परिवर्तन किया जा रहा है; क्योंकि सरकार भलीभाँति जानती है कि 'मुफ्त माल' का लालच इस विषयमें रामबाण है। चाय और सिगरेट-को दैनिक प्रयोगके आवश्यक पदार्थोंमें सम्मिलित किये जानेसेपूर्व मुफ्त बँटते उसने स्वयं देखा है। सरकारी नीति अब इतने जोर-शोरसे प्रसारित एवं प्रचारित की जा रही है कि 'पशुपालन' नामसे खोले गये विभागद्वारा गोपाष्टमीके पुनीत पर्वपर गोसंवर्धन-सप्ताह मनाते हुए उ० प्र० के पशुपालन आयुक्तने अपना (अर्थात् सरकारी) निम्नलिखित संदेश सरकारी ( अर्थात् जनताके ) व्ययसे छपवा कर बँटवाया—

'गायकी तरफ यदि केवल आर्थिक दृष्टिसे ही देखा जाय, उसे रुपये, आने-पाईमें तौला जाय तो यह निर्विवाद स्पष्ट है कि वह हमारे देहाती या शहरी अर्थशास्त्रमें नहीं बैठती, उसे अलग करना ही होगा और धीरे-धीरे उसका स्थान भैंस तथा यन्त्रोंको देना होगा.........यह सब उसी समय सम्भव होगा जब कि हम गोवधको सीधा अपनावें या वधके लिये दूसरे देशोंमें उसे जाने दें।'

सरकारने अपनी इस विचारधाराका प्रसार करनेमें कितनी सफलता प्राप्त की है, इसका अनुमान आप इतनेसे ही लगा लीजिये कि कुछ ही वर्षों पूर्व जिन चीजोंसे गोवधका साधारण भी सम्बन्ध होनेके कारण उनका व्यवहार तथा व्यापार करनेको चित्त नहीं चाहता था, आज मुसलमान, ईसाई तथा वे लोग ही नहीं, जो गोवधमें सहायक बनते आ रहे हैं, वरं गायके शरीरमें तैंतीस कोटि देवताओंका निवास और गायको वैतरणी पार करानेका एकमात्र साधन मानने-वाले हिंदू भी गायके चमड़े और चर्बी आदिसे बनी चीजोंका व्यवहार एवं व्यापार बड़ी शानसे करते हैं। प्रो० जान हेनरी आनन्दने लिखा है '........ अंग्रेजी भाषाका यही तो चमत्कार है कि वह अच्छे-भले इन्सानको चाहे वह ईसाई हो या मुसलमान या हिंदू, सभीको त्रिशङ्कु बना देती है और ऐसे त्रिशङ्कुओंकी भारतमें कमी है?' शायद सरकार सभी देशवासियोंको ऐसा ही त्रिशङ्कु बना देना चाहती है, तभी तो अंग्रेजीको अबतक अनावश्यक महत्त्व दिये जा रही है। अस्तु।

### अनुपयोगी गोवंश

विचारणीय यह है कि क्या हमारा ५० प्रतिशत गोवंश वस्तुतः अनुपयोगी अतः भारस्वरूप है ? और यदि वास्तवमें ऐसा ही है तो इससे किस प्रकार छुटकारा पाया जाय ? गोवंशके अनुपयोगी पशुओंकी गणना करनेसे पूर्व हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि गोवंशका मुख्य उत्पादन केवल दूध नहीं, गोबर, मूत्र और बैल-शक्ति भी है। उसके अङ्गोंसे प्राप्त होनेवाले लाभ अन्य या सहायक उत्पादन ( Bye Products ) हैं। विचार कीजिये—देशमें ८१ करोड़ एकड़से कुछ अधिक भूमि है, जिसमेंसे सन् १९६१ की रिपोर्टके अनुसार ४२ करोड़ एकड़ भूमि खेतीमें ले ली गयी है। शेष लगभग ४० करोड़ एकड़में पर्वत, वन, नदी, नगर सभी हैं। पर्वत और वनमें उत्पन्न होनेवाली और चारेके रूपमें प्रयुक्त हो सकनेवाली घास तथा अन्य वनस्पतिके उपयोगका प्रबन्ध यदि किया जाय तो अनुमान है कि ८० करोड़ पशुओंको वर्षभरके लिये चारा प्राप्त हो सकता है। खेतीकी ४२ करोड़ एकड़ भूमिमें, अनुमान है कि खाद्य सामग्रीके साथ प्रति एक एकड़में एक पशुके लिये वर्षभरका चारा भी निकल आयेगा। यदि सघन खेती की जाय तो अन्न और अन्य वस्तुओंके

उत्पादनके साथ ही चारा भी बढ़ेगा । अतः ४२ करोड़ पशु खेतीवाली भूमिपर आश्रित रह सकते हैं। इस प्रकार देशमें एक अरबसे भी अधिक पशुओंके लिये चारा उत्पन्न करनेकी क्षमता है ।

सरकारी हिसाब यह है कि खेतीवाली भूमिके लिये प्रति एकड़ हर तीसरे वर्ष बीस टन गोबरकी खाद चाहिये । खेतीयोग्य भूमि है बयालीस करोड़ एकड़ अर्थात् प्रतिवर्ष चौदह करोड़ एकड़ भूमिके लिये खाद चाहिये । सरकारी आँकड़ोंके अनुसार एक पशुसे प्रतिवर्ष प्राप्त होनेवाली खादका औसत है लगभग तीन टन । इसका अर्थ यह हुआ कि एक एकड़ भूमिको बीस टन खाद देनेके लिये सात पशु चाहिये । अर्थात् देशको ९८ करोड़ पशु चाहिये जब कि सन् १९६१ की पशुगणनाके अनुसार खाद देनेवाले पशुओंकी संख्या २२½ करोड़ ही है । ७५½ करोड़ पशुओंकी कमी है । रासायनिक खाद दालमें नमक बराबर काम दे सकती है । इससे अधिक मात्रामें प्रयोग करनेका अर्थ होगा—भूमिको सदैवके लिये बंजर बना देना । स्पष्ट है कि खाद्य-समस्या पशुओंसे खाद प्राप्त करके ही हल होगी । यदि पशुसंख्या कम की जायगी तो जनता भूखों मरेगी—जैसा कि इस समय हो रहा है। हालत क्रमशः बदतर होती जायगी । पशुओंके बढ़नेसे अधिक खाद प्राप्त होनेपर अनाजकी उपज स्थायीरूपसे बढ़ेगी । साथ ही दूध-घीका उत्पादन भी बढ़ेगा । दूधके बढ़नेसे अन्नकी खपत कम होगी, स्वास्थ्य तो उत्तम बनेगा ही ।

सरकार जिन पशुओंको अनुपयोगी बताती है, उनकी निश्चित संख्या वह स्वयं आजतक न बता सकी । स्वर्गीय श्रीनेहरूजीने उनकी संख्या साठ प्रतिशत बतायी थी । उल्लिखित टीमके सदस्योंने पचास प्रतिशत तक बतायी । कृषि मंत्रीने अबसे दस वर्ष पूर्व लोकसभामें दिये अपने एक वक्तव्यमें उनकी संख्या दससे तीस प्रतिशत तक बतायी, Cattle Preservation and Development Committee ने अपनी रिपोर्टमें बताया—'In the absence of any accurate and reliable figure, it is estimated that about 2 P. C. of the total cattle population in the country is unserviceable'. अर्थात् यथार्थ और विश्वस्त आँकड़ोंके अभावमें यह अनुमान किया गया है कि देशके सम्पूर्ण पशु-धनमें लगभग दो प्रतिशत पशु अनुपयोगी हैं ।

उल्लिखित आँकड़ोंके दीख पड़नेवाले स्पष्ट वैभिन्न्यका क्या हम यह अर्थ लगायें कि ये सभी आँकड़े गलत हैं या क्रमशः इन तथाकथित अनुपयोगी पशुओंका नाश किया जा रहा है ? तो इस विचारसे तो अब अनुपयोगी पशु बिल्कुल भी नहीं अथवा नगण्य होने चाहिये, जब कि सरकारके कथनानुसार इन पशुओंकी संख्या अब पहलेकी अपेक्षा भी अधिक है—जिसका मुख्य कारण अनुपयोगी पशुओंके वधको प्रोत्साहन देनेके लोभमें वस्तुतः अति उपयोगी पशुओंका वध होना है; इसीलिये सन् १९५२ से अबतक हमारे देशमें दूधका उत्पादन तथा गायोंकी दूध देनेकी क्षमतामें चालीस प्रतिशतके लगभग ह्रास हुआ है ।

हमारे विचारसे अनुपयोगी पशु वही हो सकता है, जो जितनी आय करावे उससे अधिक व्यय करावे । गोवंशके जिन पशुओंको सरकार अनुपयोगी बताती है, उनपर प्रति पशु एक वर्षमें व्यय होता है पचीस रुपये-से लेकर तीस रुपये तक । ये आँकड़े हैं—शिवपुरी तथा इन्दालाकी गोशालाओंके, जिसकी पुष्टि सरकारी अनुमान भी करता है; क्योंकि इसी कारण सरकार गोसदनके प्रत्येक पशुके व्ययकी सहायताके लिये पंद्रह रुपये प्रति पशु देती है, जो पूरे व्ययका आधा भाग कहा जाता है । अब आय देखिये । नेशनल इनकम कमेटी ( सन् १९५१ की रिपोर्ट पृष्ठ ६८ अपेन्डिक्स

चौआलीस 'ए' पर एक 'बेकार' गायद्वारा अड़तीस रुपयेका गोबर और चौदह रुपयेका मूत्र प्रति वर्ष प्राप्त होना बताया है। इस रूपमें बाईस रुपयेसे लेकर सत्ताईस रु० तककी वार्षिक बचत एक अनुपयोगी गौसे भी हुई। गोबरका प्रयोग यदि बिजली उत्पन्न करनेमें भी किया जाय तो यह बिजली जल-विद्युत्से भी सस्ती पड़ती है। खादके रूपमें उसका प्रयोग फिर भी हो सकता है। गोमूत्रका प्रयोग यदि वैज्ञानिक ढंगपर किया जाय तो इसका मूल्य १३६० रु० वार्षिक हो सकता है। Journal of Veterinary Science and Animal Husbandry in India ( 1941 ) के निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

**'A cattle gives 3347 lbs of urine in a year from which 20 seers of Nitrogen, 32 seers of Phosphates and 28 seers of Potash can be made. The market rate of these products is Rs. 8.00 and Rs. 20.00 per seer respectively'.**

इसका अर्थ हुआ एक सौ साठ रुपयेकी नाइट्रोजन, छः सौ चालीस रुपयेकी फास्फेट तथा पाँच सौ साठ रुपयेकी पोटाश एक पशुके मूत्रसे वर्षभरमें प्राप्त हुई। यह अबसे तेईस वर्ष पुराने मूल्य हैं। इनमें भी अब ड्योढ़ा-दूना अन्तर अवश्य आ गया होगा। विचारशील पाठक स्वयं निर्णय करें कि गणतन्त्र सरकारको आठ करोड़ रुपये १४) रुपयेसे १३६०) रु० कर देनेवाले वैज्ञानिक उपकरणोंपर व्यय करना चाहिये, २२½ करोड़ पशुओंके समुचित पालन-पोषणपर व्यय करना चाहिये। साढ़े पचहत्तर करोड़ पशुओंकी कमी पूरी करनेमें व्यय करना चाहिये अथवा इतनी राशि प्रतिपशु प्रतिवर्ष प्राप्त होनेके साधन नष्ट कर उन मूक प्राणियोंकी निर्दयतापूर्वक जीवनलीला समाप्त कर देनेके कुत्सित एवं गर्हित प्रयासमें व्यय करना चाहिये।

सन् १९२१-२२ ई० में अंग्रेजीशासनमें सुदूर-पूर्वके देशोंको मांस भेजनेके लिये रतौना ( म० प्र० ) और सेनाके लिये मांसकी व्यवस्था करनेको लाहौर ( अब पाकिस्तानमें ) यान्त्रिक कसाईखाना बनना प्रारम्भ हुआ तो जनताने उसका तीव्र सक्रिय विरोध किया। परिणामतः दोनों कसाईखाने नहीं बन सके। जब सर्वशक्तिसम्पन्न अंग्रेजी साम्राज्यको भी जनमतका आदर करते हुए अपना निर्णय बदलना पड़ा तो कोई कारण नहीं कि जनतन्त्र सरकार जनताके निर्णयको अपनी हठधर्मीसे ठुकरा सके। यह ध्यान रक्खें कि कसाईखाना एक बार बननेके बाद कोई आन्दोलन उसके विरोधमें नहीं चल सकता और न चलेगा। मेरा निवेदन है कि भारत गोसेवक समाज, देवनार कतलखाना निषेध कमेटी, सार्वदेशिक गोकृष्यादि रक्षिणी सभा ( रजि० ) लखनऊ, आर्यसमाज और उसकी शिरोमणि संस्थाएँ, जैन संस्थाएँ सनातनधर्म सभाएँ तथा राष्ट्रप्रेमी सभी संस्थाएँ और व्यक्ति जनताको वास्तविकतासे अवगत कराकर संगठित प्रयासद्वारा सबल जनमत जाग्रत् करके देशके विनाशके इस क्रूर काण्डके ताण्डव-नृत्यको प्रारम्भ होनेसे पूर्व ही समाप्त कर दें, अन्यथा अहिंसापर आधारित 'जियो और जीने दो' की भावनाकी प्रसारक भारतीय संस्कृतिके प्रेमियोंका अस्तित्व ही मिट जायगा और देशमें 'त्रिशंकु' ही शेष रह जायँगे!

# मांस-अंडेका भोजन और चमड़ेका व्यवहार तुरंत त्याग करें

किसी एक ग्रन्थमें यह कथा पढ़ी थी (यद्यपि महाभारत आदिमें यह नहीं है) कि धृतराष्ट्रको अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेका बड़ा शोक था और वे इतने अधिक क्षमतावान् थे कि उन्हें अपने पूर्वके सौ मानव-जन्मोंकी बात याद थी। एक दिन उन्होंने शोकाकुल होकर भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—'भगवन्! मुझे सौ जन्मोंकी बात याद है। इन सौ जन्मोंमें मुझसे ऐसा कोई पाप नहीं बना, जिसका फल मेरे जीते-जी मेरे सौ वीर पुत्रोंका मरण हो; फिर ऐसा क्यों हुआ?' यह सुनकर योगेश्वरेश्वर भगवान्ने धृतराष्ट्रके विगत सौ जन्मोंके पूर्वके एक जन्मका दृश्य उनके सामने उपस्थित किया।

एक नगरमें एक राजा हैं। राजा बड़े सज्जन हैं; पर वे कुछ चटोरे हैं। उनका रसोइया छिपा मांसाहारी है। उसने राजाको प्रसन्न करनेकी बात सोची। राजाके बगीचेमें एक हंस-हंसिनीका जोड़ा था। हंसिनीने सौ अंडे दिये और उसके सौ बच्चे हुए। रसोइया एक दिन उनमेंसे एक बच्चेको ले आया और उसे मारकर राँधकर राजाको खिला दिया। राजाको वह स्वाद लगा। राजाने रसोइयेकी प्रशंसा की और उसे इनाम दिया। रसोइया इनामके लोभसे सौ दिनोंतक एक-एक बच्चेको लाकर मारकर राजाको खिलाता रहा। राजा निरामिष-भोजी थे; पर उन्होंने रसोइयासे पूछा नहीं कि यह क्या चीज है? रसोइयेने इस डरसे बताया नहीं कि निरामिषभोजी राजाको पता लगनेपर इनाम तो दूर रहा, वे नाराज होकर दण्ड दे देंगे। राजाने स्वादवश बिना पूछे हंसके सौ बच्चोंको खा लिया। यही उनका पाप था। श्रीकृष्णने यह दृश्य दिखाकर राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'वही राजा तुम हो। बीचमें सौ जन्मोंमें तुम्हारे कर्म-संचयमें पुण्य अधिक होनेके कारण इस पापका फल भोगनेका अवसर नहीं आया। इस जन्ममें तुम्हारा वह कर्म-फल प्रकट हुआ।'

इस आख्यायिकाको पढ़कर उन लोगोंको अपने भविष्यपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये जो स्वादवश निरीह गरीब अनबोल पशु-पक्षियोंको मारकर-मराकर उनका मांस खाते हैं। मांस बेचते हैं, पशु-पक्षीका वध करते हैं, वधकी योजना बनाते हैं और कसाईखाने खोलते तथा चलाते हैं तथा अंडे खाते एवं अंडे खानेका प्रचार करते हैं।

बड़े ही दुःखका विषय है कि भारतवर्ष आज अपने सर्वात्मभाव तथा सर्वभूतहितरूप स्वधर्मको भूलकर पाप-पथमें दौड़ने लगा है। इसका परिणाम क्या होगा पता नहीं; पर विचारशील तथा अपना भला चाहनेवालोंको मांस तथा अंडोंका आहार कदापि नहीं करना चाहिये। यह हमारी प्रार्थना है।

इसीके साथ चमड़ेका व्यवहार भी त्याग करना चाहिये। इस समय फैशनकी गुलामीके कारण चमड़ेका प्रचार बहुत बढ़ रहा है। चमड़ेके कारण बहुत बड़ी संख्यामें पशुहत्या और गोहत्या होती है। शौकीन लोग नरम चमड़ेके जूते पहनना पसंद करते हैं। चमड़ा किस प्रकार उतारा तथा बनाया जाता है, इसके सम्बन्धमें 'धर्मयुग' दिनाङ्क ३०। ११। ५२ में निम्नलिखित विवरण छपा था। उसे नीचे पढ़िये और चमड़ेका व्यवहार करते समय अपने कर्तव्यपर विचार कीजिये। नहीं तो, आपका भविष्य निश्चय ही महान् दुःखमय होगा।

(१) 'गाय, बैल, भैंसे आदिका चमड़ा प्राप्त करनेके लिये पहले उन्हें नलोंके नीचे खड़ा करके पाँव एवं सिर बड़ी मजबूतीके साथ बाँधा जाता है ताकि वे इधर-उधर हिल न सकें। मुँहको इतना कसकर बाँध देते हैं कि वे अपनी करुण पुकार भी न सुना सकें। इसके बाद उनपर पानी छिड़का जाता है, बादमें लचकदार बेंतोंसे उनकी खूब पिटाई की जाती है, ताकि चमड़ेमें खूनकी तीव्रगति शुरू हो। चमड़ा मोटा एवं सूज जानेपर गर्दन धड़से अलग कर दी जाती है।'

(२) 'जवान गाय, बैल एवं भैंसकी खाल भी काममें ली जाती है। उनके पाँव एवं मुँह खूब मजबूतीके साथ बाँध देते हैं। फिर खूब उबलता हुआ पानी उनके ऊपर छिड़कते हैं, जिससे उनके बाल सब जल जाते हैं और खून चमड़ेमें दौरा करने लगता है। जब रक्तकी लालिमा बाहर दिखायी देने लगती है तब निर्मम अत्याचार कर चमड़ा उतार लिया जाता है।'

(३) 'काफ लैदर' अर्थात् बछड़ेकी खाल···। गायके बछड़ोंको खूब अच्छी तरहसे स्नान कराया जाता है। फिर लचकदार बेंतोंकी पिटाईसे ताजा खून उबलता है, चमड़ा मुलायम हो जाता है। फिर काँटेदार मशीनके नीचे खड़ाकर

बिजलीका खटका दबा देते हैं। मूँगफलीके छिलकेके समान मशीन चमड़ा उतार देती है और वह जीवित अस्थि-पंजर दो-तीन घंटेतक वहीं पड़ा रहता है।'

( ४ ) 'काफी या क्रोम लैदर' से भी मुलायम और नाजुक बढ़िया शौकीनीकी जो चीजें होती हैं तथा जिससे कोट, चेस्टर, ब्रिजिस आदि बढ़िया चीजें बनती हैं, वे भेड़, बकरी, भैंस एवं गाय आदि पशुओंका गर्भपात कराकर तथा इन्हें मारकर इनके गर्भका कोमल भ्रूण निकालकर उसके चमड़ेसे तैयार की जाती हैं; क्योंकि गर्भस्थ भ्रूणोंका चमड़ा अत्यन्त मुलायम और लचीला होता है।'

( ५ ) 'चमड़ेकी जो बढ़िया-बढ़िया चीजें लाल या ब्राउन रंगकी होती हैं, वे खूनसे ही रँगी होती हैं। खून निकालनेके लिये मशीनें होती हैं। स्वस्थ गाय या जवान बछड़े-बछड़ियोंको मशीनके पास खड़ा कर दिया जाता है और औजारोंसे उनकी नस काटकर मशीनकी नली लगा दी जाती है। वह मशीन शरीरका खून चूस लेती है और दो-तीन घंटों बाद वह पशु चल बसता है !!

दानव बने मानवकी क्रूर दानवताका यह ज्वलन्त उदाहरण है !!

# पुराणोंमें दिव्य उपदेश

**अनेकजन्मतपसा लब्ध्वा जन्म च भारते।**
**ये हरिं तं न सेवन्ते ते मूढाः कृतपापिनः॥**
**वासुदेवं परित्यज्य विषये निरतो जनः।**
**त्यक्त्वामृतं मूढबुद्धिर्विषं भुङ्क्ते निजेच्छया॥**

( ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म० १६ । ३८ । ३९ )

अनेक जन्मोंकी तपस्याके फलसे भारतमें जन्म पाकर भी जो लोग श्रीहरिका सेवन—भजन नहीं करते, वे मूर्ख और पापी हैं। जो मनुष्य वासुदेवका त्याग करके विषयोंमें रचा-पचा रहता है, वह महान् मूर्ख है और जान-बूझकर अमृतका त्याग करके विष-पान करता है।

**अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता।**
**एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥**

( पद्म० पाताल० ८४ । ४२ )

अहिंसा, सत्य, अस्तेय ( चोरी न करना ), ब्रह्मचर्यपालन तथा निष्कपटभावसे रहना—ये भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये मानसिक व्रत कहे गये हैं।

**यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।**
**अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥**

( श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८ )

मनुष्योंका हक केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनका पेट भर जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।

**असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।**
**अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥**
**आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।**
**योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥**
**कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।**
**आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥**

( श्रीमद्भा० ७ । १५ । २२–२४ )

धर्मराज ! संकल्पोंके परित्यागसे कामको, कामनाओंके त्यागसे क्रोधको, संसारी लोग जिसे अर्थ कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभको और तत्त्वके विचारसे भयको जीत लेना चाहिये। अध्यात्मविद्यासे शोक और मोहपर, संतोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनके द्वारा योगके विघ्नोंपर और शरीर-प्राण आदिको निश्चेष्ट करके हिंसापर विजय प्राप्त करनी चाहिये। आधिभौतिक दुःखको दयाके द्वारा, आधिदैविक वेदनाको समाधिके द्वारा और आध्यात्मिक दुःखको योगबलसे एवं निद्राको सात्त्विक भोजन, स्थान, सङ्ग आदिके सेवनसे जीत लेना चाहिये।

**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।**
**मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥**

( पद्म० उ० ९४ । २१ )

नारदजी बोले कि एक बार मैंने भगवान्‌से पूछा—'देवेश्वर ! आप कहाँ निवास करते हैं ?'

तो वे भगवान् विष्णु मेरी भक्तिसे संतुष्ट होकर इस

प्रकार बोले—'नारद ! न तो मैं वैकुण्ठमें निवास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें। मेरे भक्त जहाँ मेरा गुणगान करते हैं, वहीं मैं भी रहता हूँ।'

**कुलं पवित्रं जननी कृतार्था**
**वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।**
**विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं**
**लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥**
(स्कन्द० मा० कुमार० ५५। १३९)

जिसका चित्त मोक्षमार्गमें आकर परब्रह्म परमात्मामें संलग्न हो सुखके अपार सिन्धुमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गयी तथा उसे प्राप्त करके यह सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी।

**यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।**
**एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥**
(नारद० पूर्व० प्रथम० ७। १५)

यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अविवेक—इनमेंसे एक-एक भी अनर्थका कारण होता है, फिर जहाँ ये चारों मौजूद हों, वहाँके लिये क्या कहना।

**नास्त्यकीर्तिसमो मृत्युर्नास्ति क्रोधसमो रिपुः।**
**नास्ति निन्दासमं पापं नास्ति मोहसमासवः॥**
**नास्त्यसूयासमाकीर्तिर्नास्ति कामसमोऽनलः।**
**नास्ति रागसमः पाशो नास्ति सङ्गसमं विषम्॥**
(नारद० पूर्व० प्रथम० ७। ४१-४२)

अकीर्तिके समान कोई मृत्यु नहीं है। क्रोधके समान कोई शत्रु नहीं है। निन्दाके समान कोई पाप नहीं है और मोहके समान कोई मादक वस्तु नहीं है, असूयाके समान कोई अपकीर्ति नहीं है, कामके समान कोई आग नहीं है, रागके समान कोई बन्धन नहीं है और आसक्तिके समान कोई विष नहीं है।

**परनिन्दा विनाशाय स्वनिन्दा यशसे परम्।**
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्णजन्मखण्ड ४। ७)

परायी निन्दा विनाशका और अपनी निन्दा यशका कारण होती है।

**विना विपत्तेर्महिमा कुतः कस्य भवेद्भुवि॥**
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० १८। १२६)

विपत्तिके बिना पृथिवीपर किसीकी महिमा कैसे प्रकट हो सकती है।

**स यं हन्ति च सर्वेशो रक्षिता तस्य कः पुमान्।**
**स यं रक्षति सर्वात्मा तस्य हन्ता न कोऽपि च॥**
(ब्रह्म० श्रीकृष्ण० ७२। १०५)

वे सर्वेश्वर प्रभु जिसे मारते हैं उसकी रक्षा कौन पुरुष कर सकता है? और वे सर्वात्मा श्रीहरि जिसकी रक्षा करते हैं उसे मारनेवाला भी कोई नहीं है।

**पश्चात्तापः पापकृतां पापानां निष्कृतिः परा।**
**सर्वेषां वर्णितं सद्भिः सर्वपापविशोधनम्॥**
(शिव० मा० ३। ५)

पश्चात्ताप ही पाप करनेवाले पापियोंके लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। सत्पुरुषोंने सबके लिये पश्चात्तापको ही सब पापोंका शोधक बतलाया है।

**दातुः परीक्षा दुर्भिक्षे रणे शूरस्य जायते।**
**आपत्कालेषु मित्रस्याशक्तौ स्त्रीणां कुलस्य हि॥**
**विनतेः संकटे प्राप्तेऽवितथस्य परीक्षतः।**
**सुस्नेहस्य तथा तात नान्यथा सत्यमीरितम्॥**
(शिव० रुद्र० १७। १२-१३)

दाताकी परीक्षा दुर्भिक्षमें, शूरवीरकी परीक्षा रणाङ्गणमें, मित्रकी परीक्षा विपत्तिमें तथा स्त्रियोंके कुलकी परीक्षा पतिके असमर्थ हो जानेपर होती है। संकट पड़नेपर विनयकी परीक्षा होती है और परोक्षमें सच्चे एवं उत्तम स्नेहकी परीक्षा होती है, अन्यथा नहीं। यह मैं सत्य कहता हूँ।

# परस्पर सहयोग

## [ एक लघु कथा ]

( लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्० )

सहकारिता आजके युगकी एक प्रमुख विचारधारा बन गयी है । यदि हम प्राचीन शास्त्रोंका गहराईसे अध्ययन करें तो हमें विदित होगा कि परस्पर सहयोगकी भावना प्राचीन भारतमें बहुत अधिक प्रचलित थी । इस प्रकारकी भावनासे प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है । गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने बताया—

**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।**
**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥**

'तुमलोग यज्ञके द्वारा देवताओंकी उन्नति करो और वे देवतालोग तुमलोगोंकी उन्नति करें । इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे ।'

पुराणोंमें भी परस्पर सहयोगकी कथा आती है । ब्रह्मा सृष्टिके रचयिता माने जाते हैं । संसारके जीवोंके वे पिता हैं । संततिका अपने पितासे समान व्यवहारकी आशा रखना स्वाभाविक है । इसी विचारसे एक दिन राक्षसलोग ब्रह्माजीके पास गये और कहने लगे कि 'आप देवताओंके तथा हमलोगोंके समानरूपसे पिता हैं । परंतु आप देवताओंके सुख तथा उनके मान-सम्मानका अधिक ध्यान रखते हैं । हमें आप उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं । हम जहाँ जाते हैं, हमारा अपमान होता है ।' इसपर ब्रह्माजीने कहा कि 'मेरी दृष्टिमें सभी समान हैं । प्राणी अपने कर्म और व्यवहारके अनुसार उन्नति करता है ।' परंतु राक्षसोंको इस कथनसे संतोष नहीं हुआ । तब ब्रह्माजीने देवताओं और राक्षसोंको दावत देनेका प्रस्ताव रक्खा । फलस्वरूप देवता भी बुलाये गये । दावतमें प्रधान मिठाईके रूपमें लड्डू बनाये गये । पहले-पहले राक्षसोंको भोजन करने बिठाया गया । तबतक देवताओंको एक परदेकी ओटमें बिठा दिया गया ।

ब्रह्माजीने राक्षसोंके सामने एक शर्त रक्खी कि लड्डू मुँहमें रखते समय हाथकी कुहनी नहीं मुड़ेगी, सीधे हाथोंसे ही भोजन किया जायगा । लोगोंने इस शर्तको मान लिया । अब वे लड्डूको हाथसे ऊपर उछालने लगे और अपने-अपने मुखोंमें झेलने लगे । इस क्रियामें कभी लड्डू नाकपर गिरता, कभी आँखपर और कभी मुँहमें । लड्डू बिखरकर इधर-उधर भी गिरने लगे । चारों ओर मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं । बहुत भोजन नष्ट करनेपर भी राक्षसोंका पेट नहीं भरा, तब ब्रह्माने कहा, 'ठहरो ।'

अब देवताओंको भोजन करने बुलाया गया । लड्डू परोसे गये । उनके सामने भी यही शर्त रक्खी गयी कि लड्डू खाते समय हाथकी कुहनीको मोड़ेंगे नहीं । देवताओंने इसे स्वीकार किया । उन्होंने लड्डू उठाकर एक दूसरेके मुँहमें देना प्रारम्भ किया । इस तरह हाथ भी सीधे ही रहे और सबने परस्पर सहयोगसे सुचारुरूपसे भोजन भी कर लिया । तब ब्रह्माजीने राक्षसोंसे कहा कि 'जो लोग स्वार्थवृत्ति छोड़कर परस्पर सहयोगसे काम करते हैं । वे अपने कार्यमें सफलता प्राप्त करते हैं और संसारमें उनका ही आदर होता है ।' असुर लोग निरुत्तर होकर चले गये ।

# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## जॉन एडम्सकी न्यायप्रियता

अमरीकन राष्ट्रपति जॉन एडम्स ( १७३५-१८२६ ) अमरीकन स्वातन्त्र्य-युद्धके प्रमुख नायकोंमेंसे थे। अमरीकन स्वातन्त्र्य-युद्धके बहुत पहिलेसे ही अमरीकामें ब्रिटिश अधिकारियोंके विरुद्ध सर्वत्र रोष और घृणा फैली हुई थी। फलतः सन् १७७० ई०में एक दिन एक अमरीकन भीड़ने एक अंग्रेज संतरीको घेरकर बुरी तरह मारना-पीटना आरम्भ किया। समाचार पाकर अंग्रेज अधिकारी कैप्टन प्रीस्टन छः सैनिकोंके साथ अंग्रेज संतरीको बचानेके लिये दौड़ा। उत्तेजित भीड़ने उसकी भी बुरी तरह मरम्मत की और एक अंग्रेज बेहोश होकर गिर पड़ा। आत्मरक्षाका कोई उपाय न देख अंग्रेजोंने भीड़पर गोली चला दी, जिससे दो अमरीकन मारे गये और तीन बादमें अस्पतालमें जाकर मर गये। प्रीस्टन और उसके छः सैनिक हत्याके अपराधमें पकड़े गये और मुकदमा चालू हो गया।

इस समय अमरीकन जनतामें प्रीस्टनके विरुद्ध बहुत उत्तेजना थी। यदि प्रीस्टन जेलमें बंद न कर दिये जाते तो सम्भवतः जनता उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालती। प्रीस्टनको सारे अमेरिकामें एक भी वकील पैरवीके लिये नहीं मिला। इसी समय जॉन एडम्सने घोषणा की कि 'प्रीस्टन निर्दोष है, उसने जो कुछ किया आत्मरक्षार्थ किया, उसकी पैरवी मैं करूँगा।' जॉन एडम्सने मुकदमेकी पैरवी की और प्रीस्टन निर्दोष छूट गये।

जॉन एडम्स एक कट्टर धार्मिक घरानेके थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्तिको केवल भगवान्को ही प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिये। उसकी प्रसन्नतामें ही सबकी प्रसन्नता है और उसकी अप्रसन्नतामें ही सबकी अप्रसन्नता है। जॉन एडम्सका विश्वास सच्चा सिद्ध हुआ। स्वातन्त्र्य-प्राप्तिके पश्चात् जॉन एडम्स अमेरिकाके उपराष्ट्रपति बनाये गये और जब जार्ज वाशिंगटनने तीसरी बार राष्ट्रपति बनना अस्वीकार कर दिया तब वे बहुमतसे राष्ट्रपति चुने गये।

एडम्स-वंश अमेरिकाके अत्यन्त प्रतिभाशाली वंशोंमें है। जॉन एडम्सके जीवनकालमें ही उनके सुपुत्र जॉन क्विन्सी एडम्स अमेरिकाके राष्ट्रपति चुने गये। वह सौभाग्य कि बाप-बेटे दोनों राष्ट्रपतिके पदतक पहुँचें, एडम्स-वंशके अतिरिक्त आजतक और किसीको यह प्राप्त नहीं हुआ। जॉन एडम्सके पौत्र चार्ल्स फ्रांसिस एडम्स अमेरिकाकी ओरसे ब्रिटेनमें राजदूतके पदपर रहे, जो उस समय बड़े महत्त्वका समझा जाता था।

जॉन एडम्सके प्रपौत्र हेनरी एडम्सका स्थान अमेरिकाके प्रधान साहित्यिकों और विचारकोंमें है। हेनरी एडम्स गीताके अनन्य प्रेमी थे। अपनी लंकायात्रामें जब वे थांडीके बौद्ध-मन्दिरमें पहुँचे तो लगभग आध घंटेतक पवित्र वृक्षके नीचे ध्यानमग्न बैठे रहे और उसके पश्चात् उन्होंने एक लंबी कविता लिखी Buddha and Brahma ( बुद्ध और ब्रह्म )। जिसमें उन्होंने बुद्धके संन्यास-मार्गकी अपेक्षा गीताके निष्काम कर्मयोगको श्रेष्ठ ठहराया है। एमर्सनकी तरह हेनरी एडम्सने भी ब्रह्मसे ब्रह्मनिष्ठ-योगी—निष्काम कर्मयोगीका—अर्थ लिया है। यह कविता पहली बार अमेरिकन पत्रिका येलरिव्युमें १९१५में छपी थी।

—श्रीराजेन्द्रप्रसाद जैन, निस्सा

( २ )

## स्त्रीरूपमें देवी

१५ अप्रैलकी घटना है। मैं बैंकसे अपना चार हजारकी कीमतका जेवर और दो हजार रुपये नकद निकलवाकर पर्समें रखकर ला रही थी। मेरे पास एक डलियामें बाजारसे लायी हुई कुछ और भी चीजें थीं। मैंने अपना पर्स इस डरसे कि कहीं रास्तेमें इधर-उधर न हो जाय, उस टोकरीमें ही रख दिया था। मैं लोकल बसमें आ रही थी। न जाने कैसे मेरा पर्स टोकरीमेंसे बसमें गिर गया। जब मैंने घर आकर देखा तो पर्स न देखकर मेरी हालत खराब हो गयी। मैंने सोचा कि मैं आफिस अपने पतिको फोन करूँ। मैं यह सोच ही रही थी कि इतनेमें क्या देखती हूँ कि एक भद्र महिला मेरा पर्स लिये दरवाजेपर खड़ी हैं; क्योंकि उस पर्समें मेरी नोटबुक थी, जिसपर मेरा नाम-पता लिखा था। जिससे उन्हें मेरा मकान फौरन मिल गया। मैं तो देखकर गद्गद हो गयी। मुझे तो स्त्री-रूपमें वह देवी दिखायी दीं। आजकलके जमानेमें इतनी निर्लोभता कठिनतासे ही देखनेमें आती है। मैंने उनका नाम-पता पूछा तो उन्होंने बड़ी कठिनतासे बताया कि मेरा नाम सुशीला गुप्ता है। उन्होंने कहा कि मैंने तो

अपना फर्ज अदा किया है; इसमें प्रशंसाकी क्या बात है; परंतु मेरा मन नहीं मानता कि जिसने मेरे ऊपर इतना बड़ा उपकार किया हो, मैं उसकी प्रशंसामें दो शब्द भी न कहूँ। मेरी लड़कीकी शादी है इसीलिये मैं जेवर लायी थी, यदि न मिलता तो पता नहीं मेरी क्या दशा होती।

—सरला देवी

( ३ )

## बड़ोंका पुण्य

निरञ्जनके हिस्सेमें बाप-दादोंकी सम्पत्तिके बँटवारेमें केवल डेढ़ बीघा जमीन अहमदाबादके नजदीक मिली थी। आजसे बारह वर्ष पूर्व उसके दाम दो हजार भी नहीं थे। फिर 'जो जोते उसकी जमीन' का कानून बन गया। अतः सरकारी कागजोंमें वह जमीन जोतनेवाले किसानके नामपर चढ़ गयी। सरकारी कीमतके अनुसार केवल तीन सौ रुपयेमें जमीन दे देनेका आदेश हो गया। निरञ्जन मध्यम वर्गका युवक था। मुश्किलसे नौकरी करके कुटुम्ब चलाने भरका कमा पाता था। अब तो जमीन भी हाथसे निकल जानेकी नौबत आ गयी। इससे निरञ्जनको बड़ी परेशानी हुई।

परंतु ईश्वरने किसानको सद्बुद्धि दी। उसने निरञ्जनसे कहा—'तुम ब्राह्मण हो, तुम्हारी जमीन मुझे नहीं लेनी है। चलो, मैं कोर्टमें बयान दे देता हूँ कि जमीन उसके मालिकको ही दे दी जाय।'

निरञ्जनको यह बात नयी-सी लगी। उसने पूछा—'पर तुम इस प्रकारका बयान किसलिये दोगे? जहाँ मुफ्तमें जमीन मिलती हो वहाँ कोई ऐसा क्यों करेगा?'

किसानने कहा—'बात सच है, कानूनके अनुसार ही सरकार मुझे जमीन दे रही है, परंतु मुझे तुम्हारे दादाजीका ऋण उतारना है। सुनो, आजसे सत्तर वर्ष पूर्व तुम्हारे दादाने मेरे पिताको अमुक रुपये देकर सहायता की थी। उस समय उतने रुपये हमें कोई नहीं दे रहा था अतएव हमारे लिये वे रुपये एक बड़ी भारी सहायता थी। हमलोग तुम्हारे दादाको वे रुपये लौटा नहीं पाये, पर हम उन्हें भूले नहीं। उन्हींके बदलेमें तुम्हारी जमीन मैं वापस दे रहा हूँ।'

इस बातके सुनते ही निरञ्जनकी आँखोंसे आँसू ढलक पड़े और उसने कहा—'ऐसा ही होता है, बड़ोंके पुण्यने आज इस विपत्तिके समय हमारी सहायता की।'

दूसरे ही दिन कोर्टमें जाकर किसानने कानूनके अनुसार लिखावट कर दी। जमीन निरञ्जनके नामपर चढ़ गयी। अब पंद्रह हजार रुपये मूल्यपर वह जमीन बिकी है और उसके रुपये निरञ्जनको मिल गये हैं। निरञ्जनकी आँखोंके सामने दादाजीके इस शुभ कार्यकी स्मृति लहरा रही है!

—शान्तिलाल दीनानाथ महेता

( ४ )

## प्रजावत्सल राजा

भावनगर स्टेटके समयकी बात है। उस समय भावनगरकी गद्दीपर महाराज कृष्णकुमारसिंहजी थे। उनके समयमें एक बार सारे राज्यमें भयंकर अकाल-जैसी परिस्थिति पैदा हो गयी।

लोगोंका कष्ट दूर करनेके लिये राज्यकी ओरसे राशनिंगकी दूकानें खोली गयीं; पर इन बुरे दिनोंमें महुवाके पासके एक बेलंगर गाँवमें नया ही प्रसङ्ग बना।

सारे गाँवके सब किसानोंके कूएँ सूख गये थे। पर उनमें एक किसान बड़ा भाग्यवान् निकला। दो बार जोड़नेपर भी उसके कूएँका पानी नहीं चुकता था।

किसानको बड़ा आनन्द मिला और सबेरेसे शामतक उसके घरके बूढ़े-बालक सभी खेतमें जुट गये। खूनका पानी करके उन्होंने ढाई बीघेमें जुवार बोयी। खेती पकी और देखते-ही-देखते खेतमें जुवारके दो ढेर लग गये। किसानको बड़ी राहत मिली कि अब बच्चे भूखों नहीं मरेंगे।

किसान यह सोच ही रहा था कि सामनेसे सरसराती एक घोड़ा-गाड़ी आती दिखायी दी। थानेदार साहेब बड़े रोब-दाबके साथ गाड़ीसे नीचे उतरे।

'अरे! यह जुवार तेरी है?' साहबने रोबके साथ पूछा।

'हाँजी, साहेब! कूएँमें पानी था, इससे बच्चोंके भाग्यसे यह हो गयी।' किसानने नम्रतासे उत्तर दिया।

'इसमेंसे आधी जुवार तुझे राज्यको देनी पड़ेगी।' थानेदार साहेबने जुवारके ढेरकी ओर कड़ी नजरसे देखा।

'अरे साहेब! इस जुवारसे तो अगली फसलतक मेरे बच्चोंका भी काम नहीं चलेगा, फिर मैं इसे कैसे दे सकूँगा।' किसानने गिड़गिड़ाकर कहा।

'अरे, तू तो बड़ा मुँहफट मालूम होता है। मेरे सामने बोलता है। आगामी कल मैं गाड़ा भेजूँगा, उसमें यदि जुवार नहीं भरी तो फिर जेलमें सींकचोंमें ढकेलना पड़ेगा अपने घरकी फौजदारी चलाकर थानेदार साहेब चले गये।

'अरे ! यों परेशान क्यों हो रहे हो ? मैंने सुना है— महाराजा साहब गोपनाथके बँगलेपर हवा खाने आये हुए हैं। करो न जाकर उनसे अर्ज जो इस थानेदारको भी पता लगे कि जो झूठी-झूठी घरकी कानून निकाल रहा है।' दूसरे बात सुनकर किसानकी घरवाली हिम्मत बँधाने पास आ गयी थी।

जैसे बुझते दीपकमें नया तेल पड़ा हो, वैसे ही किसानकी आँखें चमक उठीं। अन्यायके सामने इन्साफ माँगनेका नया विश्वास पैदा हो गया। संध्या होते ही घरवालीको जुवार सँभालनेके लिये खेतपर छोड़कर किसान महाराजा साहबको फरियाद सुनाने अँधेरेमें ही चल दिया और पौ फटते-फटते बँगलेपर पहुँच गया।

सूरज उगा, अतः महाराजा साहब घूमनेके लिये निकले। किसान साहस बटोरकर पास गया; पर जबान नहीं खुली। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वह महाराजाके पैरोंपर पड़ गया।

श्रीकृष्णकुमारसिंहजीने किसानको उठाया और खूब दिलासा देकर उससे बात पूछी। किसानने अपने ऊपर होते जुल्मकी बात सुनायी। गरीब किसानकी जुवारको थानेदार बेकानूनी हजम करना चाहता है—यह सुनते ही महाराजकी आँखें लाल हो गयीं। उन्होंने उसी समय कागज मँगवाकर थानेदारीकी बरखास्तगीका हुक्म लिख दिया।

राज्यके दो आदमियोंको अपनी मोटर देकर उस किसानके साथ भेजा।

घरवाली जुवारकी देख-रेख कर रही थी। थानेदार साहेब गाड़ा भेजें, इसके पहले ही वे नौकरीसे छूट गये। गरीब किसानके बच्चोंको रोटी मिली। इससे इतना ही नहीं हुआ, सारे गाँवसे अधिकारियोंका अन्याय दूर हो गया। राजाके प्रति लोगोंकी भक्ति जाग उठी। आज भी श्रीकृष्णकुमारसिंहजीके वंशका कोई उस बेलंगर गाँवके पाससे निकलता है तो सारा गाँव तन-मन-धनसे उसका स्वागत करता है। ( अखण्ड आनन्द )

—चीमनलाल शामजीभाई पुरोहित

( ५ )

## न्याय

### [ घटना छोटी पर सिद्धान्त बड़ा सच्चा ]

वर्तमान कालमें प्रायः न्याय भी कागजके कुछ टुकड़ोंपर बिकने-सा लगा है। अपने साथ घटित उन दो घटनाओंको देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया, जिनमें 'ईश्वरके यहाँ अब भी बावन तोले पाव रत्ती सही-सही न्याय होता है।' यह स्पष्ट झलकता है।

घटनाएँ बहुत पुरानी नहीं, कुछ दिनों पूर्वकी ही हैं। एक दिन मैं अपने एक साथीके साथ बाजारसे गेहूँ खरीदने गया। दूकानदार गेहूँ तौलने लगा, मैं देखने लगा। वह भूलसे ५ किलो गेहूँ अधिक तौल गया। मुझे यह सब ज्ञात था। मेरी आत्माने नहीं चाहा कि मैं उनको घर लाऊँ, लेकिन मनने आत्माका साथ नहीं दिया। मन कहने लगा—'तुम्हारा इसमें क्या दोष ! तुमने कोई चोरी थोड़े ही की है।' मैं आत्मा और मनके इस संघर्षमें कुछ भी निर्णय नहीं कर सका। तब चुपके-से मैंने अपने साथीसे कहा—'दूकानदारने भूलसे पाँच किलो गेहूँ अधिक तौल दिये हैं, उन्हें वापिस कर देना चाहिये।'

साथीने उत्तर दिया—'तुम भी अजीब हो। उसे बतानेकी क्या आवश्यकता है ? गलती उसकी है।' मनकी जीत हो गयी और मनकी जीत तो पहले ही थी, नहीं तो, किसीसे पूछनेकी क्या आवश्यकता। आत्माकी बात मानकर गेहूँ वापस कर दिये जाते। अस्तु ! मैं, उन पाँच किलो अधिक गेहुँओंको ले आया। संयोगसे उसी समय पिसाने भी जाना पड़ा। गेहूँ पिसाकर ले आया और ऊपर सीढ़ियोंपर चढ़ रहा था कि आटेके पात्रका कुंदा टूट गया और पात्र नीचे एक ऐसे स्थानपर गिरा, जहाँ उसमेंसे ठीक ५ किलो आटा नालीमें गिर गया, शेष एक पवित्र स्थानपर सुरक्षित रहा। मैं समझ गया कि यदि गेहूँ इस प्रकार बिखरते तो शायद बीन भी लिये जाते, इसलिये आटा ही बिखरा ताकि उसे उठाया न जा सके।

इसके कुछ दिनों पश्चात् मैं इस घटनाको पूर्णतः भूल गया। कुछ रुपये लेकर पुस्तकें खरीदने जा रहा था। रास्तेमें ही आवश्यकताकी कोई दूसरी वस्तु भी खरीदनी पड़ गयी। वस्तुकी कीमत थी तीन रुपये। मैंने दूकानदारको दो-दो रुपयेके दो नोट दे दिये। उसे एक रुपया वापिस करना चाहिये था, किंतु भूलसे यह समझकर कि मैंने उसे पाँच रुपयेका नोट दिया है, उस दूकानदारने मुझे दो रुपये वापिस कर दिये। मुझे पता था कि वह एक रुपया अधिक वापिस कर रहा है, फिर भी मैं पैसेके लोभमें फँसकर उन दोनों रुपयोंको लेकर आगे बढ़ गया। वहाँ जाकर

किताबें खरीदीं और जब पैसे देने लगा तो देखा कि जेबसे किसीने पाँच रुपयेका एक नोट गायब कर लिया था।

अचानक ही मुझे पहली घटना याद आ गयी। विचार करने लगा, 'पहली बार कुछ दण्ड नहीं मिला था। अबकी बार एकके चार ब्याजके देने पड़े। इससे सुन्दर न्याय और क्या हो सकता है !'

—बी० एन० शर्मा, एम्० ए०, साहित्यरत्न

( ६ )

## इन्द्राक्षी-कवचके प्रयोगसे अपूर्व लाभ

'कल्याण' वर्ष ३७ अङ्क १० में किन्हीं बहनने इन्द्राक्षी-देवीका यन्त्र-कवच-स्तोत्र छपवाया था। मैं उसका अध्ययन करता आ रहा हूँ और प्रतिदिन पूजामें पाठ करता हूँ। घटना अभी हालकी है। मेरे चचेरे भाई रामगोपालजीकी पत्नी लक्ष्मी देवीको अचानक दिलका दौरा ता० २४ । ४ । ६४ को रात्रिके करीब ११ बजे हुआ। उस समय मैं सो रहा था। उन्होंने आकर जगाया और कहा—'हमारी स्त्रीकी बोली बंद हो गयी है। शरीर ऐंठा जा रहा है, चलकर देखो।' मैंने जाकर देखा, वास्तवमें बात सही थी। मैं उनसे कहा—'आप तुरंत किसी अच्छे डाक्टरको लाकर दिखलाइये। मामला बहुत नाजुक मालूम हो रहा है।' वे डाक्टरको बुलाने चले गये। मैं देवीजीका स्मरण करने लगा। देखते-ही-देखते लक्ष्मीकी आँखें बंद हो गयीं। मुँहसे फिचकुर बहने लगा तथा शरीर जडवत् काठके समान होकर ठंढा पड़ गया। मैंने यह देखकर उसे मन्त्रोंसे फूँकना शुरू किया। इन्द्राक्षी-कवच तथा स्तोत्रका ऐसा चमत्कार हुआ कि एक ही मिनटमें उसने आँखें खोल दीं और कुछ मरतबे फूँकनेपर वह उठकर बैठ गयी। यह घटना पाँच मिनटके अंदर घटित हुई।

इतनेमें रामगोपालजी डाक्टरको लिवाकर आ गये। डाक्टरने देखा और एक सूई लगायी तथा 'यह दौरेकी बीमारी है, दवासे ठीक हो जायगी'—कहकर वे चले गये। रामगोपालजी डाक्टरके साथ दवा लाने चले गये। उन लोगोंके जानेके बाद फिर पीड़ा शुरू हो गयी। वह छटपटाने लगी और शरीर ऐंठने लगा। इसी बीच रामगोपालजी दवा तथा किन्हीं एक झाड़-फूँक करनेवालेको साथ लेकर आये। उन्होंने झाड़-फूँक शुरू की; परंतु पीड़ा बढ़ती ही गयी। शरीर ऐंठता ही रहा। करीब एक घंटेतक झाड़-फूँक करनेपर भी जब कोई लाभ नहीं हुआ, तब वे हताश होकर बैठ गये।

अब मुझसे नहीं रहा गया। मैंने फिर देवीजीका ध्यान करके इन्द्राक्षी-कवच-स्तोत्रसे फूँकना शुरू किया। पाँच मिनट-के अंदर ही सारा रोग जाता रहा। वह उठकर बैठ गयी और सब लोगोंसे मजेमें बातें करने लगीं। इन्द्राक्षी-कवचका जैसा अपूर्व चमत्कार आज देखनेको मिला, वैसा अपने जीवनमें पहले मैंने कभी नहीं देखा था। इन्द्राक्षी-कवच 'कल्याण'में छपवाकर उन बहिनजीने बड़ा ही उपकार किया है।

—श्रीरामगुलाम केसरवानी गिरधरका चौराहा, मिरजापुर

हस्ताक्षर—श्रीरामगोपाल, श्रीमती लक्ष्मीदेवी

( ७ )

## खूनी-वादी बवासीरकी अनुभूत दवा

खूनी तथा वादी—दोनों प्रकारके बवासीरके नाशका यह अनुभूत प्रयोग है। मैंने स्वयं और अन्य बहुत-से लोगों-पर प्रयोग करके इससे लाभ उठाया है। नुस्खा यह है—नारियलकी छाल ( जटा ) को भस्म करके १) एक तोलेभर पाँच दिनोंतक रोज फाँक लें और ऊपरसे गायकी छाछ पाव या आधसेर रुचिके अनुसार पी लें। जबतक दवा लें, तबतक तेल, खटाई, गुड़ नहीं खायँ। लालमिर्च तो बवासीरके रोगीको कभी नहीं खानी चाहिये।

—श्रीमनोहरसिंह मेहता, सोनासेरी, दान्ता भैरू, उदयपुर (मेवाड़)

# भूल-सुधार

'कल्याण'के पिछले पाँचवें अङ्क पृष्ठ ९१९ में 'वट-सावित्री अमावस्या' शीर्षक एक लेख छपा है, उसके पहले कालमकी दसवीं पंक्तिमें 'उसके श्वशुर महाराज अश्वपति' भूलसे छप गया है। वस्तुतः महाराज अश्वपति सावित्रीके पिता थे, उसके श्वशुर ( सत्यवान्‌के पिता ) का नाम तो द्युमत्सेन था। अतः वहाँ 'अश्वपति'के स्थानपर 'द्युमत्सेन' पढ़ना चाहिये। इस प्रमादके लिये हम पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं।

# श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओं-की व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। गत वर्षसे रामायण-परीक्षाओंमें पुरस्कारोंकी संख्या एवं धनकी वृद्धि भी की गयी है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दि० २२–२३ नवम्बर १९६४ को एवं रामायण-परीक्षाएँ दि० ३–४ जनवरी १९६५ को होनेवाली हैं। केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थना-पत्र दि० ३० अगस्त १९६४ तक भेज देनेकी कृपा करें। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—**श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)**

*श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके लेखोंकी एक नयी पुस्तक*

# भक्तियोगका तत्त्व

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४५६, चार सुन्दर बहुरंगे चित्र, मूल्य १.२५, डाकखर्च १.०३ कुल २.२८।

जिस प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग और प्रेमयोग-सम्बन्धी लेखोंकी पृथक्-पृथक् तीन पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं, वैसे ही प्रेमी भाइयोंके विशेष आग्रहसे भक्तिसम्बन्धी २९ लेखोंका यह संग्रह प्रकाशित किया गया है। इन लेखोंमें भक्तिके स्वरूप, महिमा और रहस्यका, भक्तोंके लक्षण, महिमा और प्रभावका; नाम-जप, ध्यान, स्मरण, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, श्रद्धा, प्रेम, शरण आदि भक्तिके साधनोंका एवं भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और स्वभाव आदि भक्तिविषयक परमोच्च भावोंका भलीभाँति निरूपण किया गया है।

भगवद्भक्तिका मार्ग ज्ञानयोग, अष्टाङ्ग-योग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंकी अपेक्षा उत्तम और सुगम होनेसे बालक-वृद्ध, स्त्री-शूद्र आदि सभीके लिये सरल है। इस दृष्टिसे यह संग्रह सर्वसाधारणके लिये परम उपयोगी है।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। विक्रेतागण प्रायः हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही पुस्तकें बेचते हैं; क्योंकि उन्हें कमीशन, यथाधिकार विशेष कमीशन तथा रेलभाड़ा यहाँसे दिया जाता है। अतः उनके यहाँसे लेनेपर आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है।

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ कल्याण तथा कल्याण-कल्पतरुके ग्राहक भी बनाये जाते हैं।

**१–कलकत्ता**—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, पता—नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड तथा नं० ३०, बाँसतल्ला गली। **२–दिल्ली**—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—नं० २६०९, नई सड़क। **३–पटना**—पता—अशोक राजपथ। **४–कानपुर**—पता—नं० २४।५५ बिरहाना रोड। **५–हरिद्वार**—पता—सब्जी मंडी, मोतीबाजार। **६–वाराणसी**—गीताप्रेस कागज एजेंसी, पता—नं० ५९।९, नीची बाग। **७–स्वर्गाश्रम**—गीता-भवन, मुनिकी रेती, ऋषिकेशके सामने गंगापार।

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार तथा वाराणसी—इन पाँच स्थानोंपर तो रेलवे-स्टेशनोंपर हमारे निजी पुस्तक-स्टाल भी हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० एल्० १७५

कल्याणके तीन पुराने विशेषाङ्क

## संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे ६ और रेखा-चित्र १२०, मूल्य ७.५०, सजिल्द ८.७५ ।

कल्याणका यह विशेषाङ्क प्रसिद्ध वैष्णव-पुराण 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' का साररूप है। इसमें दिव्य गोलोकविहारी परात्पर भगवान् श्रीकृष्णकी गोलोकलीलाका और उनकी अवतार-लीलाका बड़ा ही रोचक और विशद वर्णन है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके मूलभूत, सर्वमय, सर्वरूप, परतम, परब्रह्म हैं । इनके तत्त्व, महत्त्व तथा मधुर लीला-चरित्रोंके साथ ही सब देवताओंकी एकता, सारी शक्तियोंकी एकता, भक्ति-तत्त्व, सदाचार, पाप-पुण्यकी व्याख्या तथा बहुसंख्यक चमत्कारपूर्ण लाभदायक स्तोत्रों, कवचों तथा मन्त्रोंका वर्णन किया गया है। कथाएँ भी बड़ी ही उपदेशप्रद, मधुर तथा प्रभावोत्पादक हैं ।

## मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखाचित्र १३८, मूल्य ७.५०, सजिल्द ८.७५ ।

इस विशेषाङ्कमें आजके युगकी सर्वप्रधान माँग मानवताके सम्बन्धमें विभिन्न दृष्टियोंसे मानवताका स्वरूप, मानवता-धर्म, मानव-कर्म, मानवताकी दुर्गति क्यों हुई, मानवता और पशुताके तथा मानवता और दानवताके भेद, विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायोंमें मानवताका स्वरूप, मानवोचित गुण, मानवके लिये त्याज्य दुर्गुण, मानवताकी महिमा, मानवताके संरक्षक आदर्श, मानवताकी उन्नतिके साधन, मानवताका विकास, मानवताके पतनके कारण, मानवताके उत्थानके उपाय और मानवताके उदाहरण आदि अनेक विषयोंपर बड़े-बड़े विचारशील मनीषी महानुभावोंके विचार हैं ।

इस अङ्कका जितना ही अधिक प्रचार होगा, उतना ही गिरी हुई मानवताके उत्थानमें सहायता मिल सकेगी ।

## संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। इसमें भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योग-भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक हैं ।

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १। सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, कुल १६८ यह विशेषाङ्क भक्तोंके लिये परमोपयोगी और संग्रह करने योग्य है। अतः जिन्हें लेना हो, वे रु० ७.५० ( डाकखर्चसहित ) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )